तुम शायद कहोगे जीवाणुकोष (Bio plasmic Cell) के द्वारा। किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि पिता का शरीर तो संतान मे सम्पूर्ण रूप से नही आता है। एक ही पिता-माता की कई सतान हो सकती है। इसलिये यदि हम यह आनुवशिक संचारवाद मान ले तो यह भी हमे अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि प्रत्येक संतान के जन्म के साथ-ही-साथ पिता-माता को भी अपनी निजी मनोवृत्ति का कुछ अंश खोना पडेगा, (चूँकि उन लोगो के मत से सचारक व सचार्य एक अर्थात् भौतिक है) एवं यदि तुम कहोगे कि उनकी सारी मनोवृत्तियॉ ही सचारित होती है तो यह वात माननी पड़ेगी कि प्रथम सन्तान के जन्म के वाद ही उन लोगो का मन पूर्ण रूप से शून्य हो जायगा। फिर यदि जीवाणुकोष में चिरकाल के अनत सस्कार रह जायॅ तो पूछा जायगा कि ये कहॉ रहते हैं और किस रूप से? यह पक्ष बिलकुल असम्भव है। जव तक ये जड़वादी प्रमाणित न कर सके कि कैसे वे संस्कार उस कोष मे रह सकते है तथा कहॉ रह सकते है एव "भौतिक कोष मे ये मनोवृत्तियाँ निद्रित रहती है" इसका तात्पर्य वे जव तक समझा नही सकते तव तक उनका सिद्धान्त मान लेना असम्भव है। इतना तो हम अच्छी तरह समझ जाते है कि ये संस्कार मन के भीतर ही निवास करते है। मन ही वार वार जन्म ग्रहण करता आता है, मन ही अपने उपयोगी उपादान ग्रहण करता है और इस मन ने जिस शरीरविशेष के धारण करने के उपयुक्त कर्म किये है, तन्निर्माणोपयोगी उपादान जव तक वह नही पाता, तव तक उसे राह देखनी पड़ती है। यह हम अनुभव करते हैं। अतएव आत्मा के लिए देहगठनोपयोगी उपादान प्रस्तुत करने तक ही आनुवंशिक संचारवाद स्वीकृत किया जा सकता है। परन्तु

आत्मा देह के बाद देह ग्रहण करती है, शरीर के बाद शरीर प्रस्तुत करती है; और हम जो कुछ चिन्ता करते है, हम जो कुछ कार्य करते है वही सूक्ष्म भाव मे रह जाता है और समय आने पर वे ही स्थूल रूप मे व्यक्त भाव धारण करके आत्मप्रकाश के लिये उन्मुख होते हैं। मैं अपना अभिप्राय तुम्हे और भी अधिक स्पष्ट रूप से कह दूँ। जब कभी मैं तुम लोगों की ओर देखता हूँ तो मेरे मन मे एक तरग उठती है। वह मानो मेरे चित्ताह्रद के भीतर डूब जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है, परन्तु वह बिलकुल ही नष्ट नहीं हो जाती। मन मे वह किसी भी मुहूर्त मे स्मृति-तरंग के रूप मे प्रकट होने को प्रस्तुत रहती है। इसी तरह मेरे मन के भीतर ही यह समस्त संस्कारसमष्टि विद्यमान है जो मृत्यु के समय पर साथ ही बाहर हो जायगी। मानो, इस कमरे मे कहीं एक गेद पड़ी है और हम सब एक एक छड़ी से सब ओर से उसे मारने लगे। गेद कमरे के एक कोने से दूसरे कोने मे दौड़ने लगी, दरवाज़े के नजदीक जाते ही वह बाहर चली गई। वह किस शक्ति से बाहर चली जाती है?—जितनी छड़ियाँ उसे मारी गई थीं उनकी सम्मिलित शक्ति से। किस ओर उसकी गति होगी, यह भी इन सभी के समेवत फल से निर्णित होगा। इसी प्रकार, शरीर का पतन होने पर आत्मा की गति का निर्णायक क्या होगा? उसने जैसे कर्म किये है, जैसी चिन्ताएँ की है, वे ही उसे किसी विशेष दिशा मे परिचालित करेगी। अपने भीतर उन सबो की छाप लेकर वह आत्मा अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर होगी। यदि समवेत कर्मफल इस प्रकार हो कि भोग के लिये उसे पुनः एक नया शरीर गढ़ना होगा तो वह ऐसे पिता-माता के पास जायगी जिनसे वैसे शरीर गठन करने के उपयुक्त उपादान प्राप्त कर सके और उन्ही उपादानो के द्वारा वह एक नया

शरीर धारण कर लेगी। इसी तरह वह आत्मा एक देह से दूसरी देह मे जाती रहेगी, कभी स्वर्ग मे जायगी तो कभी पृथ्वी पर आकर मानव देह धारण करेगी अथवा अन्य कोई उच्चतर या निम्नतर जीव-शरीर धारण करेगी। और इस प्रकार वह तब तक आगे बढ़ती जायगी जब तक उसका भोग समाप्त होकर वह अपने निजी स्थान पर लौट न आयेगी। तभी वह अपना स्वरूप जान सकती है, जान सकती है कि वह यथार्थतः क्या है। तब समस्त अज्ञान दूर हो जाता है और उसकी सारी शक्तियाँ प्रकाशित होजाती है। वह तब सिद्ध हो जाती है, पूर्णता प्राप्त कर लेती है, तब उसके लिये स्थूल शरीर की सहायता से कार्य करने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। सूक्ष्म शरीर के द्वारा कार्य करने की भी आवश्यकता नही रहती। वह तब स्वयंज्योति व मुक्त हो जाती है, उसका फिर जन्म या मृत्यु कुछ भी नही होता।

अब इस विषय पर हम और अधिक कुछ आलोचना नही करेगे। पुनर्जन्म के बारे मे केवल एक और बात की ओर आप लोगो का ध्यान आकर्षित कर हम यह आलोचना समाप्त करेगे। यही मत केवल जीवात्मा की स्वाधीनता की घोषणा करता है। केवल यही एक मत है जो हमारी सारी दुर्बलताओ का दोष दूसरे के मत्थे नहीं मढता। अपने निज के दोष दूसरे के मत्थे मढना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता है। हम अपने दोष नहीं देखते है। क्या आँखे कभी अपने को देख पाती है? किन्तु वे दूसरे सभी को आँखे देख सकती है। हम मनुष्य है, अपनी दुर्बलताये, अपनी गलतियाँ मानने को हम तब तक राजी नही होते जब तक हम दूसरो पर ये सब लाद सकते है। साधारणतः मनुष्य अपने दोषों तथा अपनी भूलो

को पडोसियो पर लादना चाहता है। और यदि यह न बन सके तो ईश्वर को इसके लिये उत्तरदायी बनाने की चेष्टा करता है— और यदि इसमे भी सफल न हुआ तो भाग्य नामक एक भूत की कल्पना करता है और उसी को इसके लिये उत्तरदायी करके निश्चिन्त रहता है। परन्तु प्रश्न यह है कि 'भाग्य' नाम की यह वस्तु है क्या और रहती कहाँ है? हम तो जो कुछ बोते है उसीको पाते है।

हमने स्वय ही अपने अपने भाग्यो की सृष्टि की है। यद्यपि हमारा भाग खोटा हो तब भी हम किसी को उत्तरदायी नहीं बना सकते और यदि हमारे भाग्य अच्छे हो तो भी किसी की प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं है। वायु सर्वदा बह रही है। जिन सब जहाजों के पाल उठे रहते है उन्हीं का वायु साथ देती है और वे ही उसके सहारे आगे बढ़ते है। किन्तु जिनके पाल लगाये नही गये उन पर वायु का कोई असर नहीं होता। किन्तु यह क्या वायु का दोष है? हममे कोई सुखी है तो कोई दुःखी। क्या यह भी उन करुणामय पिता के कारण है जिनकी कृपा-रूपी वायु दिनरात बहती रहती है, जिनकी दया का अन्त नही है? हम स्वयं ही अपने भाग्यों के निर्माता है। उनका सूर्य सभों के लिये उगता है चाहे वे दुर्बल हो या बलवान। साधु, पापी सभी के लिये उनकी वायु बह रही है। वे सभो के प्रभु है, पिता है, वे दयामय तथा समदर्शी है। क्या तुम लोगो की यह धारणा है कि हम छोटी छोटी चीजों को जिस दृष्टि से देखते है, वे भी उसी दृष्टि से देखते है? भगवान के सबध मे हमारी यह कितनी क्षुद्र धारणा है। कुत्ते के पिल्लो की

तरह हम नाना विषयो के लिये प्राणपण से चेष्टा कर रहे है और मूर्ख की तरह हम समझ रहे है कि भगवान भी उन विषयों को ठीक उसी तरह सत्य समझकर ही ग्रहण करेगे। इन पिल्लो के इस खेल का क्या अर्थ है, वे अच्छी तरह जानते है। उन पर सब दोष लाद देना या यह कहना कि वे ही दण्ड-पुरस्कार देने के मालिक है, मूर्खता की बाते है। वे किसी को दण्ड नहीं देते, पुरस्कार भी किसी को नहीं देते। प्रत्येक देश मे, प्रत्येक काल मे और प्रत्येक दशा मे प्रत्येक जीव उनकी अनंत दया प्राप्त करने का अधिकारी है। किस तरह उसका व्यवहार किया जायगा यह हम पर निर्भर रहता है। मनुष्य, ईश्वर या और किसी पर दोष लादने की चेष्टा न करो। जब तुम स्वय कष्ट पाते हो तो अपने को ही उसके लिये दोषी समझो एवं जिससे अपना कल्याण हो सके उसी की चेष्टा करो।

पूर्वोक्त समस्या का यही समाधान है। जो लोग अपने दुःखो या कष्टो के लिये दूसरों को दोषी बनाते है (दुःख इस बात का है कि ऐसे लोगो की सख्या दिनो दिन बढ़ती जा रही है) साधारणतया वे लोग दुर्बल-मस्तिष्क है; अपने कर्म-दोष से वे ऐसी परिस्थिति में आ पडे है, किन्तु अब वे इसलिये दूसरों को उत्तरदायी बना रहे है— इससे उनकी दशा मे तनिक भी परिवर्तन नहीं होता वरन् दूसरो पर दोष लादने की चेष्टा करने के कारण वे और भी दुर्बल बन जाते हैं। अतएव अपने दोष के लिये तुम किसी को उत्तरदायी न समझो. अपने ही पैरो पर खडे होने की चेष्टा करो, सब कामों के लिये अपने को ही उत्तरदायी समझो। कहो कि जिन कष्टो को हम

अभी झेल रहे है वे हमारे ही कृत कर्मों के फल है। यदि यह मान लिया जाय तो यह भी प्रमाणित हो जायगा कि वे फिर हमारे ही द्वारा नष्ट भी किये जा सकेंगे। हमने जो कुछ सृष्ट किया है उस सभी का ध्वंस भी हमीं कर सकते है, जो कुछ दूसरों ने बनाया है उसका नाश हमसे कभी नहीं हो सकता। अतएव उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ। सब उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लो—यह याद रखो कि तुम स्वय ही अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता मागते हो वह तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। इसलिये इसी ज्ञानरूपी शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपना भविष्य अपने हाथों बनाओ। 'गतस्य शोचना नास्ति'—अब समस्त भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। सर्वदा तुम इस बात का स्मरण रखो कि तुम्हारी प्रत्येक चिन्ता, प्रत्येक कार्य सचित रहेगा, और यह भी याद रखो कि जैसे तुम्हारी प्रत्येक असत् चिन्ता या असत् कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की चेष्टा करेगा वैसे ही सत् चिन्ताएँ एवं सत् कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिये उद्यत रहेंगे।

१०. बहुत्व में एकत्व

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् परान् पश्यति
नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीर . . प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
—कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, प्रथम वल्ली ।

" स्वयंभू ने इन्द्रियो को वहिर्मुख होने का विधान बनाया है, इसीलिये मनुष्य सामने की ओर (विषयो की ओर) देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता । कोई कोई ज्ञानी व्यक्ति जो विषयो की ओर से निवृत्तदृष्टि है और अमृतत्व प्राप्ति की इच्छा रखता है, अन्तरस्थ आत्मा को देखा करता है । " हम देख चुके है कि वेदो के संहिता भाग मे तथा अन्य ग्रन्थो मे भी जगत् के तत्व का जो अनुसन्धान हो रहा था उससे बाहरी प्रकृति की तत्वालोचना द्वारा ही जगत् के कारण का अनुसन्धान करने की चेष्टा की गई थी, उसके बाद इन सभी सत्य की खोज करने वालो के हृदय मे एक नवीन प्रकाश आलोकित हुआ; उन्होंने समझ लिया कि वहिर्जगत् के अनुसन्धान द्वारा वस्तु का वास्त-विक स्वरूप जानना असम्भव है । फिर किस प्रकार उसको जानना होगा ? वाहर की ओर से दृष्टि को फिरा कर अर्थात् भीतर की ओर दृष्टि करके जानना होगा । और यहाँ पर आत्मा का विशेषण स्वरूप जो 'प्रत्यक्' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह भी एक विशेष भाव का द्योतक है । प्रत्यक् अर्थात् जो भीतर की ओर गया है—हमारी अन्तरतम वस्तु

हृदय-केन्द्र, वही परम वस्तु जिससे मानो सब बाहर आया है, वही मध्यवर्ती सूर्य जिसकी किरणे है मन, शरीर, इन्द्रियॉ और जो कुछ हमारा है वह सब।

' पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीराः अमृतत्व विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥

(कठ—पूर्वोक्त)

" बालबुद्धि मनुष्य वाहरी काम्य वस्तुओं के पीछे दौड़ते फिरते है। इसीलिये सब ओर व्याप्त मृत्यु के पाश मे बध जाते है, किन्तु ज्ञानी पुरुष अमृतत्व को जान कर अनित्य वस्तुओं मे नित्य वस्तु की खोज नही करते।" यहॉ पर भी यही भाव प्रकट होता है कि सीमित वस्तुओ से पूर्ण बाह्य जगत् मे असीम और अनन्त वस्तु की खोज व्यर्थ है—अनन्त की खोज अनन्त मे ही करनी होगी और हमारी अन्तर्वर्ती आत्मा ही एक मात्र अनन्त वस्तु है। शरीर, मन आदि जितना भी जगत्प्रपञ्च हम देखते हैं अथवा जो हमारी चिन्तायें अथवा विचार है कुछ भी अनन्त नही हो सकता। इन सभी की उत्पत्ति काल मे है और लय भी काल मे है। जो द्रष्टा साक्षी पुरुष इन सब को देख रहा है, अर्थात् मनुष्य की आत्मा, जो सदा जाग्रत है वही एक मात्र अनन्त है, वही जगत् का कारणस्वरूप है; अनन्त की खोज करने के लिये हमे अनन्त मे ही जाना पडेगा—उस अनन्त आत्मा मे ही हम जगत् के कारण को देख पायेगे। ' यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ' (कठ—पूर्वोक्त)। ' जो यहॉ है वही वहॉ भी है; जो वहॉ है वही

यहाँ भी है। जो यहाँ नाना रूप देखते है वे बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते है।' संहिता भाग मे हम देखते है कि आर्यों मे स्वर्ग जाने की विशेष रूप से इच्छा रहती थी। जब वे जगत्प्रपञ्च से विरक्त हो उठे तो स्वभावत ही उनके मन मे एक ऐसे स्थान मे जाने की इच्छा हुई जहाँ दुःख से बिलकुल रहित केवल सुख ही सुख हो। ऐसे स्थानो का ही नाम स्वर्ग है—जहाँ केवल आनन्द ही होगा, जहाँ शरीर अजर अमर हो जायगा, मन भी वैसा ही हो जायगा और वे वहाँ पितृगणो के साथ सदा वास करेगे। किन्तु दार्शनिक विचारो की उत्पत्ति होने के बाद इस प्रकार के स्वर्ग की धारणा असगत और असम्भव मालूम पड़ने लगी। 'अनन्त किसी एक देश मे है,' यह वाक्य ही स्वविरोधी है। किसी भी स्थानविशेष की उत्पत्ति और नाश दोनो ही काल मे होते हैं। अतः उन्हे स्वर्गविषयक धारणा का त्याग कर देना पडा। वे धीरे धीरे समझ गये कि ये सब स्वर्ग मे रहने वाले देवता लोग एक समय इसी जगत् के मनुष्य थे, बाद मे किसी सत्कर्म के फलस्वरूप वे देवता बन गये हैं: अतः यह देवत्व केवल विभिन्न पदो का नाम मात्र है। वेद का कोई भी देवता किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है।

इन्द्र या वरुण किसी व्यक्ति के नाम नही है। ये सब विभिन्न पदो के नाम है। उनके मत के अनुसार जो पहले इन्द्र थे वे अब इन्द्र नही है, उनका इन्द्रत्व अब नही है, एक अन्य व्यक्ति यहाँ से जाकर उस पद पर आरूढ़ हो गया है। सभी देवताओ के सम्बन्ध मे इसी प्रकार समझना चाहिये। जो सब मनुष्य कर्म के बल से देवत्व प्राप्ति के योग्य अवस्था को प्राप्त कर चुके है

वे ही सब इन पदो पर समय समय पर प्रतिष्ठित होते है। किन्तु इनका भी विनाश होता है। प्राचीन ऋग्वेद मे देवताओ के सम्बन्ध मे हम इस अमरत्व शब्द का व्यवहार देखते है अवश्य, किन्तु बाद के काल मे इसका एकदम परित्याग कर दिया गया है; कारण, उन्होने देखा कि यह अमरत्व देश-काल से अतीत होने के कारण किसी भौतिक वस्तु के सम्बन्ध मे प्रयुक्त नही हो सकता, चाहे वह वस्तु कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो। वह कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो, उसकी उत्पत्ति देश-काल में ही है, कारण, आकार की उत्पत्ति का प्रधान उपादान देश है। देश को छोड़ कर आकार के विषय की कल्पना करके देखो, यह असम्भव है। देश ही आकार के निर्माण का एक विशिष्ट उपादान है—इस आकृति का निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। देश और काल माया के भीतर है। और स्वर्ग भी इसी पृथ्वी के समान देश-काल की सीमा से बद्ध है यह भाव उपनिषदो के निम्नलिखित श्लोकांश मे व्यक्त किया गया है—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह'—'जो कुछ यहाँ है वह वहाँ है, जो कुछ वहाँ है वही यहाँ भी है।' यदि ये ही देवता है तो जो नियम यहाँ है वही वहाँ भी लागू होते है, और सभी नियमों का चरम उद्देश्य है—विनाश, और बाद मे फिर नये नये रूप धारण करना। इसी नियम के द्वारा सभी जड पदार्थ विभिन्न रूपो मे परिवर्तित हो रहे है, और टूट कर, चूरचूर होकर फिर उन्ही जड कणों मे परिणत हो रहे है। जिस किसी वस्तु की उत्पत्ति है, उसका विनाश होता ही है। अतएव यदि स्वर्ग है तो वह भी इसी नियम के अधीन होगा।

हम देखते है कि इस जगत् मे सभी प्रकार के सुखो की छाया के रूप मे कोई न कोई दुःख रहता है। जीवन के पीछे उसकी छाया के रूप मे मृत्यु रहती है। वे दोनो सदा एक साथ ही रहते है। कारण. वे परस्पर विरोधी नही है: वे दोनो पूर्ण पृथक् सत्तायें नही हैं, वे एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप है. वह एक ही वस्तु जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, अच्छे-बुरे आदि रूप में प्रकाशित हो रही है। अच्छी और बुरी ये दोनो सम्पूर्ण रूप से पृथक् वस्तुये हैं और वे अनन्त काल से चली आ रही है. यह धारणा नितान्त असगत है। वे वास्तव मे एक ही वस्तु के विभिन्न रूप है—जो कभी अच्छे रूप मे और कभी बुरे रूप मे प्रतिभात हो रही है, बस। यह विभिन्नता प्रकारगत नही. परिमाणगत है। उनका भेद वास्तव में मात्रा के तारतम्य मे है। हम देखते हैं कि एक ही स्नायुप्रणाली अच्छे बुरे दोनो प्रकार के प्रवाह को ले जाती है। किन्तु यदि स्नायुमण्डली किसी प्रकार से बिगड़ जाय तो किसी प्रकार की अनुभूति ही न होगी। मान लो, एक स्नायु में पक्षाघात हो गया, उस समय उसमे से होकर जो सुखकर अनुभूति आती थी वह नही आयेगी, और दुःखकर अनुभूति भी नही आयेगी। वे सुख दुःख कभी भी पृथक् नही होते, वे मानो सर्वदा एकत्र ही रहते है और एक ही वस्तु जीवन मे कभी सुख, कभी दुःख का उत्पादन करती है। एक ही वस्तु किसी को सुख और किसी को दुःख देती है। मांसाहार से खाने वाले को सुख अवश्य मिलता है, किन्तु जिसका मास खाया जाता है उसे तो भयानक कष्ट है। ऐसा कोई विषय ही नही जो सब को समान रूप से सुख देता हो। कुछ लोग सुखी हो रहे है और कुछ दुःखी। इसी प्रकार चलेगा।

अतः अब यह स्पष्ट होगया कि यह द्वैतभाव वास्तव मे मिथ्या है। इससे क्या प्राप्त हुआ ? मै पहले व्याख्यान मे ही यह कह चुका हूँ कि जगत् मे ऐसी अवस्था कभी आ ही नही सकती जब सभी कुछ अच्छा हो जायगा और बुरा कुछ भी नहीं रहेगा। इससे अनेक व्यक्तियों की चिर घोषित आशा अवश्य चूर्ण हो जायगी, अनेक इससे भयभीत भी होंगे किन्तु इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त मै अन्य उपाय नही देखता। यदि मुझे कोई समझा दे कि वह सत्य है तो मै समझने को तैयार हूँ, परन्तु जब तक मेरी समझ मे नही आता तब तक कैसे मान सकता हूँ ?

मेरे इस कथन के विरुद्ध कुछ युक्तियुक्त मालूम पड़ने वाला एक तर्क है कि क्रमविकास की गति के क्रम से समयानुसार जो कुछ अशुभ हम देखते है सभी चला जायगा—इसका फल यह होगा कि इसी प्रकार कम होते होते लाखों वर्ष के बाद एक ऐसा समय आयेगा जब सभी अशुभ नष्ट हो कर केवल शुभ ही शुभ शेष रह जायगा। ऊपर से देखने पर यह युक्ति एकदम अखण्डनीय मालूम पड सकती है। ईश्वरेच्छा से यदि यह सत्य होती तो बड़ा ही आनद होता, किन्तु इस युक्ति मे एक दोष है। वह यह कि यह शुभ और अशुभ दोनों को निर्दिष्ट परिमाण मे लेती है। यह स्वीकार करती है कि एक निर्दिष्ट परिमाण मे अशुभ है, मान लो कि वह १०० है, और इसी प्रकार निश्चित परिमाण मे शुभ भी है और यह अशुभ कम होता जा रहा है और केवल शुभ बचता जा रहा है। किन्तु क्या वास्तव मे ऐसा ही है ? जगत् का इतिहास साक्षी है कि शुभ के समान अशुभ भी क्रमशः बढ़ ही रहा है।

समाज के अत्यन्त निम्न स्तर के व्यक्ति को लीजिये। वह जंगल मे रहता है, उसके भोगसुखों की संख्या कम है, इसलिये उसके दुःख भी कम है। उसके दुःख केवल इन्द्रियविषयो तक ही सीमित हैं। यदि उसे पर्याप्त मात्रा मे भोजन न मिले तो वह दुःखी हो जाता है। उसे खूब भोजन दो, उसे स्वच्छन्द हो कर घूमने फिरने और शिकार करने दो, वह पूरी तरह सुखी हो जायगा। उसका सुख-दुःख सभी केवल इन्द्रियो मे ही आबद्ध है। मानलो कि उसका ज्ञान बढ़ने लगा। उसका सुख बढ़ रहा है, उसकी बुद्धि खुल रही है, वह जो सुख पहले इन्द्रियो मे पाता था अब वही सुख उसे बुद्धि की वृत्तियो को चलाने मे मिलता है। वह एक सुन्दर कविता पाठ करके अपूर्व सुख का स्वाद लेता है। गणित की किसी समस्या की मीमांसा करने मे ही उसका सम्पूर्ण जीवन कट जाय, इसी मे उसको परम सुख प्राप्त है। किन्तु इसके साथ साथ असभ्य अवस्था मे जिस तीव्र यंत्रणा का उसने अनुभव नहीं किया, अब उसके स्नायु उसी तीव्र यंत्रणा का अनुभव करने के भी क्रमशः अभ्यासी हो जाते है, अतः उसे तीव्र मानसिक कष्ट होता है। एक बहुत ही साधारण उदाहरण लीजिये। तिब्बत देश मे विवाह नहीं होता, अतः वहाँ प्रेम की ईर्ष्या भी नहीं पाई जाती, फिर भी हम जानते ही है कि विवाह अपेक्षाकृत उन्नत समाज का परिचायक है। तिब्बती लोग निष्कलक स्वामी और निष्कलक स्त्री के विशुद्ध दाम्पत्य-प्रेम का सुख नहीं जानते। किन्तु साथ ही किसी पुरुष या स्त्री के पतन हो जाने से दूसरे के मन मे कितनी भयानक ईर्ष्या, कितना अन्तर्दाह उपस्थित हो जाता है वे यह भी नहीं जानते। एक ओर उच्च धारणा से सुख मे वृद्धि हुई अवश्य, किन्तु दूसरी ओर इससे दुःख की भी वृद्धि हुई।

आप अपने देश की ही बात लीजिये—पृथ्वी पर इसके समान धनिको का देश दूसरा नही है—और दुःख कष्ट यहाँ किस प्रबल रूप में विराजमान है वह भी देखिये। अन्यान्य देशों की अपेक्षा यहाँ पागलों की सख्या कितनी अधिक है! इसका कारण है, यहाँ के लोगो की वासनाये अति तीव्र, अत्यन्त प्रबल हैं। यहाँ के लोगों को जीवन का स्तर सर्वदा ऊँचा ही रखना होता है। आप लोग एक वर्ष मे जितना खर्च कर देते हैं, वह एक भारतीय के लिये जीवन भर की सम्पत्ति के बराबर है। और आप लोग दूसरों को उपदेश भी नहीं दे सकते कि खर्च कम करो, कारण, यहाँ चारों ओर की अवस्था ही ऐसी है कि किसी विशेष स्थान मे इतने से कम मे खर्च ही नही चलेगा—नहीं तो सामाजिक चक्र मे आपको पिस जाना पड़ेगा। यह सामाजिक चक्र दिन रात घूम रहा है—वह विधवा के आँसुओं पर और अनाथ बालक-बालिकाओं के चीत्कार पर तनिक भी कान नहीं देता। आपको भी इसी समाज मे आगे बढकर चलना होगा, नही तो इसी चक्र के नीचे पिस जाना होगा। यहाँ सभी जगह यही अवस्था है। आप लोगो की भोगसम्बन्धी धारणा भी अत्यधिक परिमाण मे विकासप्राप्त हो गई है, आप का समाज भी अन्यान्य समाजो की अपेक्षा लोगों को अधिक आकर्षित करता है। आपके भोगों के भी नाना प्रकार के उपाय हैं। किन्तु जिनके पास आपके समान भोगो की सामग्री नहीं है या कम है उनके लिये आपकी अपेक्षा दुःख भी कम हैं। इसी प्रकार आप सभी जगह देखेगे। आपके मन मे जितनी दूर तक उच्च अभिलाषाये रहेगी आपको सुख भी उतना ही अधिक मिलेगा और उसी परिमाण मे दुःख भी। एक मानो दूसरे की छाया स्वरूप है। अशुभ कम होता जा रहा है यह बात सत्य हो सकती है, किन्तु उसके साथ ही शुभ भी कम

हो रहा है यह भी कहना पडेगा। किन्तु वास्तव मे एक ओर जैसा दु.ख कम हो रहा है दूसरी ओर वैसा ही क्या करोडो गुना बढ नहीं रहा है? बात यही है कि सुख यदि समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) के नियम से बढ रहा है तो दु'ख समगुणितान्तर श्रेणी अर्थात् (Geometrical progression) के नियमं से बढ रहा है ऐसा कहना पडेगा। इसीका नाम माया है। यह न केवल सुखवाद है, न केवल दु'खवाद। वेदान्त यह नही कहता कि जगत् केवल दुख मय है। ऐसा कहना ही भूल है। और जगत् सुख से परिपूर्ण है, यह कहना भी ठीक नही है। बालको के लिये यह जगत् केवल मधुमय है—यहाँ केवल सुख है, केवल फूल है, केवल सौन्दर्य हैं, केवल मधु है—इस प्रकार की शिक्षा देना भूल है। हम सारे जीवन इन्ही फूलो का स्वप्न देखते है। और कोई एक व्यक्ति अन्य की अपेक्षा अधिक दुख भोगता है, इसीलिये सब दुखमय है यह कहना भी भूल है। जगत् इसी द्वैत भाव से पूर्ण अच्छे बुरे का खेल है। वेदान्त इसके अतिरिक्त एक और बात कहता है। यह मत सोचो कि अच्छा और बुरा दो सम्पूर्ण पृथक वस्तुये है। वास्तव में वह एक ही वस्तु है। एक ही वस्तु भिन्न भिन्न रूप से भिन्न भिन्न आकार मे आविर्भूत हो कर एक ही व्यक्ति के मन मे भिन्न भिन्न भाव उत्पन्न करती है। अतएव वेदान्त का प्रथम कार्य है इस ऊपर से भिन्न प्रतीत होने वाले वाह्य जगत् मे एकत्व का आविष्कार करना। पारसीयो का मत है कि दो देवताओ ने मिलकर जगत् की सृष्टि की है। यह मत अवश्य ही बहुत कम उन्नत मन का परिचायक है। उनके मत से जो अच्छा देवता है वह सभी सुखो का विधान कर रहा है; और बुरा देवता सभी बुरे विषयो का विधान कर रहा है। यह स्पष्ट है कि ऐसा

होना असम्भव है; कारण, वास्तव में यदि इसी नियम से सभी कार्य हो तो प्रत्येक प्राकृतिक नियम के दो अंश हो जायेंगे—कभी तो एक देवता उसे चलाता है, वह चला गया, उसकी जगह और एक आया। किन्तु वास्तव मे हम देखते है कि जो शक्ति हमे खाना पीना देती है वही दैवदुर्विपाक द्वारा अनेकों का संहार भी करती है। यह मत स्वीकार करने मे एक और गड़बड यह है कि एक ही समय दो देवता कार्य कर रहे है। एक स्थान पर एक किसी का उपकार कर रहा है, दूसरे स्थान पर दूसरा किसी का अपकार कर रहा है। फिर भी दोनों के बीच सामञ्जस्य बना रहता है—यह किस प्रकार सम्भव है? अवश्य ही यह मत जगत् के द्वैत तत्व को प्रकाश करने की एक बहुत ही स्थूल प्रणाली मात्र है—इसमे कोई सन्देह नहीं।

अब हम उच्चतर दर्शनों मे इस विषय में क्या सिद्धान्त माना गया है इस पर विचार करेंगे। इनमें स्थूल तत्व की बात छोड़कर सूक्ष्म भाव की दृष्टि से कहा जाता है कि जगत् कुछ तो अच्छा है, कुछ बुरा। पहले जो युक्तिपरम्परा हमने ग्रहण की, उसके अनुसार यह भी असम्भव है।

अतएव हम देखते है कि केवल सुखवाद अथवा केवल दुःख-वाद—किसी भी मत के द्वारा जगत् की यथार्थ व्याख्या या वर्णन नहीं होता। कुछ घटनाएँ सुखवाद की पोषक है, कुछ दुःखवाद की समर्थक। किन्तु क्रमशः हम देखेंगे कि वेदान्त मे सभी दोष प्रकृति के कन्धो से हटाकर हमारे अपने ऊपर दिया गया है। और इसी मे हमे विशेष आशा भी दी गई है। वेदान्त वास्तव मे अमंगल अस्वीकार नहीं करता। वह जगत् की सभी घटनाओ के सभी अंशों

का विश्लेषण करता है—किसी भी विषय को छिपाकर रखना नहीं चाहता। वह मनुष्य को एकदम निराशा के सागर मे नही बहा देता। वह अज्ञेयवादी भी नही है। उसने इस सुख-दुःख के प्रतीकार के उपाय का आविष्कार किया है, और यह प्रतीकार का उपाय वज्र के समान दृढ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। वह ऐसा उपाय नही बताता जिससे कि केवल बच्चे का मुँह बन्द कर दिया जाय एवं जिसे वह सहज मे ही समझ ले, ऐसे स्पष्ट असत्य के द्वारा उसकी दृष्टि को अन्धा कर दिया जाय। मुझे याद है, जब मै बालक था उस समय किसी युवक के पिता मर गये जिससे वह बड़ा गरीब हो गया, एक बड़े परिवार का भार उसके गले पड गया। उसने देखा कि उसके पिता के मित्र लोग ही उसके प्रधान शत्रु है। एक दिन एक धर्माचार्य के साथ साक्षात् होने पर वह अपने दुःख की कहानी कहने लगा और वे उसको सान्त्वना देने के लिये कहने लगे, "जो होता है अच्छा ही होता है, जो कुछ होता है अच्छे के लिये ही होता है।" पुराने घाव को जिस प्रकार मखमल के कपड़े से ढक रखना होता है, धर्माचार्य की उपर्युक्त बात भी ठीक वैसी ही थी। यह हमारी अपनी दुर्बलता और अज्ञान का परिचय मात्र है। छः मास के बाद उसी धर्माचार्य के घर एक सन्तान हुई, उसके उपलक्ष्य मे जो उत्सव हुआ उसमे वह युवक भी निमन्त्रित था। धर्माचार्य महोदय भगवान् की पूजा आरम्भ करके बोले—'ईश्वर की कृपा के लिये उसे धन्यवाद है।' तब युवक उठकर बोला—'यह क्या कह रहे है? उसकी कृपा कहाँ है? यह तो घोर अभिशाप है।' धर्माचार्य ने पूछा—'वह कैसे?' युवक ने उत्तर दिया—'जब मेरे पिता की मृत्यु हुई तब ऊपर अमंगल होने पर भी उसे आपने मंगल कहा था। इस

समय आपकी सन्तान का जन्म भी यद्यपि ऊपर ऊपर आपको मगल सा लग रहा है किन्तु वास्तव मे मेरी दृष्टि से यह महा अमंगलकारी मालूम होता है। इसी प्रकार जगत् के दुःख-अमगल को ढक रखना ही क्या जगत् का दुःख दूर करने का उपाय हो सकता है? स्वयं अच्छे वनो और जो कष्ट पा रहे है उनके ऊपर दया करो। जोड जाड करके रखने की चेष्टा मत करो, उससे भवरोग दूर नही होगा। वास्तव मे हमे जगत् के बाहर जाना पडेगा।

यह जगत् सदा ही भले और बुरे का मिश्रण है। जहॉ भलाई देखो, समझ लो कि उसके पीछे बुराई भी छिपी है। किन्तु इन सभी व्यक्त भावों के पीछे—इन सब विरोधी भावो के पीछे वेदान्त उसी एकत्व को देखता है। वेदान्त कहता है, बुराई छोडो, और भलाई भी छोडो। ऐसा होने पर शेष क्या रहा? वेदान्त कहता है कि केवल अच्छे बुरे का ही अस्तित्व है यह बात नही। इनके पीछे एक ऐसी वस्तु रहती है जो वास्तव मे तुम्हारी है, जो वास्तव मे तुम्हीं हो, जो सब प्रकार के शुभ और सब प्रकार के अशुभ के बाहर है। वही वस्तु शुभ और अशुभ रूप मे प्रकाशित हो रही है। पहले इसको जान लो—तभी, और केवल तभी तुम पूर्ण सुखवादी हो सकते हो। इसके पूर्व नही। ऐसा होने पर ही तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकते हो। इन्ही आपातप्रतीयमान व्यक्त भावो को अपने आधीन करो, तब तुम उस सत्य वस्तु को इच्छानुसार जैसा चाहो प्रकाशित कर सकोगे। तभी तुम उन्हे चाहे शुभ रूप मे, चाहे अशुभ रूप मे जैसी इच्छा हो प्रकाशित कर सकोगे। किन्तु पहले तुम्हे स्वय अपना ही प्रभु बनना पड़ेगा। उठो, अपने को मुक्त करो, इस समस्त

नियमो के राज्य के बाहर जाओ, कारण ये नियम प्रकृति के सभी अशो मे व्यापक नही है, वे तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को बहुत कम प्रकाशित करते है। पहले अपने को समझो कि तुम प्रकृति के दास नही हो, न कभी थे, न कभी होओगे–प्रकृति यो तो अनन्त मालूम पडती है अवश्य, किन्तु वास्तव मे वह ससीम है। वह समुद्र का एक बिन्दु मात्र है, और तुम्ही वास्तव मे समुद्र रूप हो, तुम चन्द्र, सूर्य, तारे सभी के अतीत हो। तुम्हारे अनन्त स्वरूप की तुलना मे वे केवल बुदबुदो के समान है। यह जान लेने पर तुम अच्छे और बुरे दोनो पर विजय पा जाओगे। तभी तुम्हारी दृष्टि एकदम परिवर्तित हो जायगी, तब तुम खडे हो कर कह सकोगे, 'मंगल कितना सुन्दर है और अमगल कितना अद्भुत है!'

वेदान्त यही करने को कहता है। वेदान्त 'यह नहीं कहता कि स्वर्णपत्र से घाव के स्थान को ढॉक कर रक्खो, और घाव जितना ही पकता जाय उसे और भी स्वर्णपत्रो से मढ दो। जीवन एक कठिन समस्या है इसमे सन्देह नहीं। यद्यपि वह वज्र के समान दुर्भेद्य प्रतीत होता है, तथापि यदि हो सके तो इसके बाहर जाने की चेष्टा करो —आत्मा इस देह की अपेक्षा अनन्त गुना शक्तिमान है। वेदान्त तुम्हारे कर्म-फल के लिये दूसरे देवता पर दायित्व नहीं डालता, वह कहता है, तुम स्वय ही अपने अदृष्ट के निर्माता हो। तुम अपने कर्म-फल से अच्छे और बुरे दोनो ही फल भोग करते हो, तुम अपने ही हाथो से अपनी ऑख मूँद कर कहते हो–अन्धकार है। हाथ हटाओ —तुम्हे प्रकाश दिखेगा। तुम ज्योतिस्वरूप हो—तुम पहले से ही सिद्ध हो। अब हम–'मृत्यो. स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इस श्रुति का अर्थ समझ पा रहे हैं।

किस प्रकार हम इस तत्व को जान सकते है ? यह मन जो इतना भ्रान्त और दुर्बल है, जो इतने सहज मे विभिन्न दिशाओं मे दौड़ जाता है, इस मनको भी सबल किया जा सकता है—जिससे वह उस ज्ञान का—उसी एकत्व का आभास पा सके। उस समय वही ज्ञान पुनः पुनः मृत्यु के हाथो से हमारी रक्षा करता है। "यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति।" (कठ० अ० २, वल्ली १, श्लोक १४) "जल उच्च दुर्गम भूमि में वरस कर जिस प्रकार पर्वतों में से होकर विकीर्ण हो दौडता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति गुणों को पृथक् करके देखता है वह उन्हीं का अनुवर्तन करता है। " वास्तविक शक्ति एक है, केवल माया मे पड़ कर अनेक होगई है। अनेक के पीछे मत दौड़ो, बस उसी एक की ओर अग्रसर होओ। " हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक २) "वह (वही आत्मा) आकाशवासी सूर्य, अन्तरिक्षवासी वायु, वेदिवासी अग्नि और कलशवासी सोमरस है। वही मनुष्य, देवता, यज्ञ और आकाश मे है, वही जल मे, पृथिवी पर, यज्ञ मे और पर्वत पर उत्पन्न होता है; वह सत्य है, वह महान् है।" "अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपो बहिश्च।" "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्व-भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक ९-१०) "जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् मे प्रविष्ट होकर दाह्य वस्तु के रूपभेद से भिन्न भिन्न रूप धारण करती है उसी प्रकार सब भूतों का एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस वस्तु

का रूप धारण कर लेता है, और सब के बाहर भी रहता है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत् मे प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओ के भेद से तत्तद्रूप हो गयी है उसी प्रकार वही एक सब भूतो का अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस रूप का हो गया है और उनके वाहर भी है।" जब तुम इस एकत्व की उपलब्धि करोगे तभी यह अवस्था होगी, उससे पूर्व नही। यही वास्तविक सुखवाद है—सभी जगह उसका दर्शन करना। अब प्रश्न यही है कि यदि यह सत्य है, यदि वह शुद्ध स्वरूप अनन्त आत्मा इन सब के भीतर प्रवेश करके रहता है तब यह क्यो सुख दु'ख भोग करता है? क्यों वह अपवित्र होकर दुःख भोग करता है। उपनिषद कहते हैं कि वह दुःखानुभव नही करता। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैः वाह्यदौषै। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक ११) "सभी लोको का चक्षुरूप सूर्य जिस प्रकार चक्षुग्राह्य वाह्य अपवित्र वस्तु के साथ लिप्त नही होता उसी प्रकार एक मात्र सव प्राणियो का अन्तरात्मा जगत् सम्वन्धी दुःख के साथ लिप्त नहीं होता, कारण वह फिर भी जगत् के अतीत है।" हमे एक रोग ऐसा हो सकता है जिसके कारण हमे सभी कुछ पीले रग का दिखाई दे, किन्तु इससे सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूप वहुधा यः करोति। तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १२) "जो एक है, सव का नियन्ता एवं सव प्राणियो का अन्तरात्मा, जो अपने एक रूप को अनेक प्रकार का कर लेता है, उसका दर्शन जो ज्ञानी पुरुष अपने मे करते है, वे ही नित्य सुखी है, अन्य नही।" "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामको

बहूनां यो विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १३) " जो अनित्य वस्तुओ मे नित्य है, जो चेतना वालो मे चेतन है, जो एकाकी अनेको की सभी काम्य वस्तुओ का विधान करता है. उसका जो ज्ञानी लोग अपने अन्दर दर्शन करते है, उन्ही को नित्य शान्ति मिलती है, औरों को नहीं ।" बाह्य जगत् मे वह कहाँ मिल सकता है ? सूर्य चन्द्र अथवा तारे उसको कैसे पा सकते है ? " न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारक, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि', तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिद विभाति ।" (कठ० अ० २, वल्ली २, श्लोक १५) " वहाँ सूर्य प्रकाश नहीं देता, चन्द्र तारे आदि नहीं चमकते, ये बिजलियाँ भी नही चमकतीं, फिर अग्नि की क्या बात ? सभी वस्तुये उस प्रकाशमान से ही प्रकाशित होती है, उसी की दीप्ति से सब दीप्त होते है ।" " ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थ' सनातनः । तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिॅल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वैतत् ।" (कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १) " ऊपर की ओर जिसका मूल और नीचे की ओर जिसकी शाखाये है ऐसा यह चिरतन अश्वत्थ वृक्ष (ससार वृक्ष) है। वही उज्ज्वल है, वही ब्रह्म है, उसी को अमृत कहते है। समस्त संसार उसी मे आश्रित है। कोई उसको अतिक्रमण नही कर सकता। यही वह आत्मा है।"

वेद के ब्राह्मण भाग मे नाना प्रकार के स्वर्गों की कथाये है। उपनिषद का यही कहना है कि स्वर्ग जाने की इस वासना का त्याग करना होगा। इन्द्रलोक या वरुणलोक जाने से ही ब्रह्मदर्शन होगा यह बात नहीं है, वरञ्च इस आत्मा के अन्दर ही ब्रह्म का दर्शन

स्पष्ट रूप से होता है । "यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके। (कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक ५) "जिस प्रकार आरसी मे लोग अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से देखते है, उसी प्रकार आत्मा मे ब्रह्म का दर्शन होता है। जिस प्रकार स्वप्न मे हम अपने को अस्पष्ट रूप से देखते है उसी प्रकार पितृलोक मे ब्रह्मदर्शन होता है। जिस प्रकार जल मे लोग अपना रूप देखते है उसी प्रकार गन्धर्वलोक मे ब्रह्मदर्शन होता है। जिस प्रकार प्रकाश और छाया परस्पर पृथक् है उसी प्रकार ब्रह्मलोक मे ब्रह्म और जगत् स्पष्ट रूप से पृथक् मालूम पडते है।" किन्तु फिर भी पूर्ण रूप से ब्रह्मदर्शन नही होता। अतएव वेदान्त कहता है कि हमारा अपना आत्मा ही सर्वोच्च स्वर्ग है, मानवात्मा ही पूजा के लिये सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है, वह सभी स्वर्गों से श्रेष्ठ है। कारण इस आत्मा मे उस सत्य का जैसा स्पष्ट अनुभव होता है और कही भी उतने स्पष्ट रूप से अनुभव नही होता। एक स्थान से अन्य स्थान मे जाने से ही आत्मदर्शन के सम्बन्ध मे कुछ विशेष सहायता होती हो सो बात नही। जब मै भारतवर्ष में था तो सोचता था कि किसी गुफा मे बैठ कर शायद खूब स्पष्ट रूप से ब्रह्म की अनुभूति होगी, परन्तु उसके बाद देखा कि यह बात नहीं है। फिर सोचा जगल मे जाकर बैठने से शायद सुविधा होगी। काशी की बात भी मन मे आई। सभी स्थान एक प्रकार के है, कारण हम स्वय ही अपना जगत् तैयार कर लेते है। यदि मैं बुरा बन जाऊँ तो सभी जगत् मुझे बुरा दीख पडेगा। उपनिषद् यही कहते है और वही एक नियम सब जगह लागू होगा। यदि मेरी यहाँ मृत्यु हो जाती है एव यदि

मै स्वर्ग जाता हूँ तो वहाँ भी मै सब कुछ यही के समान देखूँगा। जब तक आप पवित्र नहीं हो जाते तब तक गुफा, जंगल, काशी अथवा स्वर्ग जाने से कोई विशेष लाभ नहीं। और यदि आप अपने चित्त रूपी दर्पण को निर्मल कर सकें तब आप चाहे कही भी रहे, आप वास्तविक सत्य का अनुभव करेंगे। अतएव इधर उधर भटकना शक्ति का व्यर्थ ही क्षय करना मात्र है—उसी शक्ति को यदि चित्तदर्पण को निर्मल बनाने मे लय किया जाय तभी ठीक होता है। निम्नलिखित श्लोक मे इसी भाव का वर्णन है:—

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक ९)

उसका रूप देखने की वस्तु नहीं। कोई उसको ऑख से नही देख सकता। हृदय, संशयरहित बुद्धि एवं मनन के द्वारा वह प्रकाशित होता है। जो इस आत्मा को जानते है वे अमर हो जाते है। जिन लोगों ने राजयोग सम्बन्धी मेरे व्याख्यान सुने है उनके लिये मै कहता हूँ कि वह योग ज्ञानयोग से कुछ भिन्न प्रकार का है। ज्ञानयोग का लक्षण इस प्रकार कहा गया है। जैसे:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

(कठ० अ० २, वल्ली ३, श्लोक १०)

अर्थात् जब सभी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं, जब मनुष्य इनको अपना दास बना कर रखता है, जब वे मन को चंचल नहीं कर पातीं, तभी योगी चरम गति को प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥

(कठ. अ. २, वल्ली ३, श्लोक १४, १५)

"जो सब कामनाये मर्त्य जीव के हृदय का आश्रय लेकर रहती है वे सब जब नष्ट हो जाती है तब मनुष्य अमर हो जाता है और यही ब्रह्म को प्राप्त होता है। जब इस संसार मे हृदय की सभी ग्रन्थियाँ कट जाती है तब मनुष्य अमर हो जाता है, यही उपदेश है।"

साधारणतः लोग कहते है कि वेदान्त, केवल वेदान्त ही क्यों, भारतीय सभी दर्शन और धर्म इस जगत् को छोड़ कर इसके बाहर जाने का उपदेश देते है। किन्तु ऊपर कहे हुये दोनो श्लोकों से प्रमाणित होता है कि वे स्वर्ग अथवा अन्य कहीं जाना नहीं चाहते, प्रत्युत वे कहते हैं कि स्वर्ग के भोग, सुख, दुःख सब क्षणस्थायी है। जब तक हम दुर्बल रहेंगे तब तक हमे स्वर्ग नरक आदि मे घूमना पड़ेगा, किन्तु आत्मा ही एक मात्र वास्तविक सत्य है। वे यह भी कहते है कि आत्महत्या द्वारा जन्म-मृत्यु के इस प्रवाह को अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। हाँ, वास्तविक मार्ग पाना अत्यन्त कठिन

अवश्य है। पाश्चात्य लोगो के समान हिन्दू भी क्रियात्मक रूप चाहते हैं, परन्तु दोनो का दृष्टिकोण भिन्न है। पश्चिमी लोग कहते है, एक अच्छा सा मकान बनाओ. उत्तम भोजन करो. उत्तम वस्त्र पहिनो. विज्ञान की चर्चा करो. बुद्धि की उन्नति करो। ये सब करने के समय वे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते है। किन्तु हिन्दू लोग कहते हैं, आत्मज्ञान ही जगत् का ज्ञान है। वे उसी आत्मज्ञान के आनन्द मे विभोर हो कर रहना चाहते हैं। अमेरिका मे एक प्रसिद्ध अज्ञेयवादी वक्ता है, वे अत्यन्त सज्जन और एक बडे सुन्दर वक्ता भी है। वे धर्म के सम्बन्ध मे एक व्याख्यान देते और कहते है कि धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है, परलोक को लेकर अपना मस्तिष्क खराब करने की हमे तनिक भी आवश्यकता नही है। अपने मत को समझाने के लिये उन्होने इस उदाहरण को लेकर कहा है—जगत् रूप यह सन्तरा हमारे सामने है. हम उसका सब रस बाहर निकाल लेना चाहते है। मेरी एक बार उनसे भेट हुई। मैने उनसे कहा—"मेरा आप के साथ एकमत है. मेरे पास भी यही फल है, मै भी इसका सब रस लेना चाहता हूँ। किन्तु आपसे मेरा मतभेद है केवल इस विषय को लेकर कि यह फल है क्या। आप इसे सन्तरा समझते है और मै कहता हूँ यह आम है। आप समझते है कि जगत् मे आकर खूब खा पीकर, पहिन कर और कुछ वैज्ञानिक तत्व जानकर ही बस चूडान्त हो गया, किन्तु आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि इसे छोड़कर मनुष्य का और कोई कर्तव्य ही नही है। मेरे लिये तो यह धारणा बिलकुल ही छोटी है।"

यदि जीवन का एक मात्र कार्य यह जानना ही हो कि सब

किस प्रकार भूमि पर गिरता है अथवा विद्युत का प्रवाह किस प्रकार स्नायुओ को उत्तेजित करता है तब तो मै इसी क्षण आत्महत्या कर लूँ। मेरा संकल्प है कि मै सभी वस्तुओ के मर्म की खोज करूँगा और जीवन का वास्तविक रहस्य क्या हैं यह जानूँगा। आप प्राण के विभिन्न विकासो की आलोचना कीजिये, मै तो प्राण का स्वरूप जानना चाहता हूँ। मै इस जीवन का समस्त रस सोख लेना चाहता हूँ। मेरा दर्शन कहता है कि जगत् और जीवन का समस्त रहस्य जानना होगा, स्वर्ग नरक आदि का सभी कुसस्कार छोड देना होगा, चाहे उनकी सत्ता ठीक इसी पृथ्वी के समान क्यो न हो। मै इस आत्मा की अन्तरात्मा को जानूँगा—उसका वास्तविक स्वरूप जानूँगा, वह क्या है, यह जानूँगा, केवल वह किस प्रकार कार्य करता है एव उसका प्रकाश क्या है यह जान कर ही मेरी तृप्ति नही होगी। सभी वस्तुओ का 'क्यो' जानना चाहता हूँ–'कैसे होती है,' यह खोज बालक करते रहे। विज्ञान और क्या है ? आपके ही किसी बडे आदमी ने कहा है–'सिगरेट पीते समय जो जो होता है वही यदि मै लिख कर रक्खूँ तो वही सिगरेट का विज्ञान होगा।' अवश्य ही वैज्ञानिक होना अच्छा है और गौरव की बात है—ईश्वर उनके अनुसन्धान मे सहायता और आशीर्वाद दे; किन्तु जब कोई कहता है कि यह विज्ञान-चर्चा ही सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त जीवन का और कोई उद्देश्य नही है, तब समझ लेना चाहिये कि वह निर्बोध के समान बात कह रहा है। समझ लो कि उसने जीवन के मूल रहस्य को जानने की कभी चेष्टा नही की; वास्तविकता क्या है, इसकी उसने कभी आलोचना ही नहीं की। मै यो ही केवल तर्क के द्वारा ही समझा दे सकता हूँ कि तुम्हारा जो कुछ भी ज्ञान है सब

भित्तिहीन, आधारहीन है। तुम प्राण के विभिन्न विकासों को लेकर आलोचना कर रहे हो, किन्तु यदि तुमसे पूछूँ कि प्राण क्या है, तो तुम कहोगे, हम नही जानते। यह ठीक है कि तुम्हे जो अच्छा लगे करो, कोई इसमे बाधा नहीं देता, किन्तु मुझे अपने ही भाव में रहने दो।

और यह भी लक्ष्य करना कि मेरा जो भाव है उसे मै कार्य रूप मे परिणत करता रहता हूँ। अतएव यह कहना व्यर्थ है कि अमुक मनुष्य क्रियात्मक (Practical) है, अमुक नही। तुम एक ढंग से क्रियात्मक हो, मै दूसरे ढग से। एक ऐसे भी लोग हैं कि जिनसे कहो कि एक पैर से खडे रहने से सत्य मिलेगा, तो वे एक पैर से खडे रहेगे। और एक इस प्रकार के लोग है—उन्होंने सुना कि अमुक जगह सोने की खान है, किन्तु उसके चारों ओर असभ्य जातियॉ रहती है। तीन आदमियों ने यात्रा की। उनमे दो शायद मर गये—एक सफल हुआ। उस व्यक्ति ने सुना है कि आत्मा नाम की कोई वस्तु है, किन्तु वह पुरोहितो के ऊपर ही इसकी मीमांसा का भार देकर निश्चिन्त हो जाता है। किन्तु पूर्वोक्त व्यक्ति स्वर्ण के लिये असभ्यों के बीच जाने के लिये राजी नही है। वह कहता है कि इस कार्य में विपत्ति की आशङ्का है। किन्तु यदि उससे कहा जाय कि एवरेस्ट पर्वत के ऊपर, समुद्र की सतह से ३०००० फुट ऊपर एक ऐसा आश्चर्यजनक साधु रहता है जो उसे आत्मज्ञान दे सकता है, तो वह तुरन्त ही बिना कपडा आदि लिये ही जाने को प्रस्तुत हो जाता है। इसी चेष्टा मे शायद ४०००० लोग मर जा सकते है, किन्तु एक व्यक्ति को सत्य की प्राप्ति हुई। वह भी एक दृष्टि से क्रियात्मक

व्यक्ति है—किन्तु लोगो की भूल इसी मे है-कि तुम जितने को जगत् कहते हो वही सब कुछ है, यह समझना। तुम्हारा जीवन क्षणस्थायी इन्द्रियो का भोग मात्र है—उसमे नित्य कुछ भी नही है, प्रत्युत उसमें दु:ख क्रमश: बढता ही जाता है। हमारे मार्ग मे अनन्त शान्ति है, तुम्हारे मार्ग मे अनन्त दु.ख है।

मैं यह नही कहता जिसे तुम वास्तविक क्रियात्मक मार्ग कहते हो वह भ्रम है। तुमने जिस रूप मे समझा है वही करो। उससे परम मंगल होगा – लोगों का वडा हित होगा, किन्तु यह कहकर हमारे पक्ष पर दोषारोप मत करना। हमारा मार्ग भी हमारे विचार से हमारे लिये क्रियात्मक मार्ग है। आओ, हम सब अपने अपने ढंग से कार्य करे। ईश्वर की इच्छा से यदि हम दोनो ही ओर कार्यात्मक होते तो बड़ा अच्छा होता। मैंने ऐसे अनेक वैज्ञानिक देखे है जो विज्ञान और अध्यात्मतत्त्व दोनों ओर से क्रियात्मक है—और मैं आशा करता हूँ कि एक समय आयेगा जब समस्त मानवजाति इसी ढग की क्रियात्मक हो जायगी। मान लो एक कढाई मे जल गरम हो रहा है—उस समय क्या होता है इस बात को यदि तुम लक्ष्य करो तो देखोगे कि एक कोने मे एक बुद्बुद उठ रहा है, दूसरे कोने मे एक और उठ रहा है। ये बुद्बुद क्रमश: बढते जाते हैं—चार पांच एकत्र हुये और बाद मे सब एकत्र होकर एक प्रबल गति आरम्भ हो गई। यह जगत् भी ऐसा ही है। प्रत्येक व्यक्ति मानो एक बुद्बुद है, और विभिन्न जातियॉ मानो कई एक बुद्बुद-समष्टि रूप है। क्रमश: जातियो मे परस्पर मिलन होता है—मेरी निश्चय धारणा है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब जाति नामक कोई वस्तु नहीं रहेगी—जाति और जाति

का भेद चला जायगा। हम चाहे इच्छा करे या न करे, हम जिस एकत्व की ओर अग्रसर होकर चल रहे है वह एक दिन प्रकाशित होगा ही। वास्तव मे हम सब के बीच भ्रातृसम्बन्ध स्वाभाविक ही है—किन्तु हम सब इस समय पृथक् हो गये है। ऐसा समय अवश्य आयेगा जब ये सब विभिन्न भाव एकत्र मिल जायेगे। प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार वैज्ञानिक विषय मे उसी प्रकार आध्यात्मिक विषय मे भी क्रियात्मक हो जायगा। उस समय वही एकत्व, वही सम्मिलन जगत् मे व्यक्त होगा। तब सभी जगत् जीवन्मुक्त हो जायगा। अपनी ईर्ष्या, घृणा, मेल और विरोध मे से होकर हम उसी एक दिशा मे चल रहे है। एक वेगवती नदी समुद्र की ओर जा रही है। छोटे छोटे कागज के टुकड़े तिनके आदि इसमे बह रहे है, वे इधर उधर जाने की चेष्टा कर सकते है, किन्तु अन्त मे उन्हे अवश्य ही समुद्र मे जाना पड़ेगा। इसी प्रकार तुम और मै तो क्या, समस्त प्रकृति ही क्षुद्र क्षुद्र कागज के टुकड़ो की भाँति उस अनन्त पूर्णता के सागर ईश्वर की ओर अग्रसर हो रही है—हम भी इधर उधर जाने की चेष्टा कर सकते है, परन्तु अन्त मे हम भी उस जीवन और आनन्द के अनन्त समुद्र मे पहुँचेगे।

११. सभी वस्तुओं में ब्रह्मदर्शन

हमने देखा कि हम अपने दुःख दूर करने की कितनी ही चेष्टा क्यो न करे, परन्तु फिर भी हमारे जीवन का अधिकाश अवश्य ही दुःखपूर्ण रहेगा। और यह दुःखराशि वास्तव मे हमारे लिये एक प्रकार से अनन्त है। हम अनादि काल से इसी दुःख के प्रतिकार की चेष्टाये करते आ रहे है, किन्तु यह जैसा था वैसा ही अब भी है। हम जितने ही उपाय इस दुःख को दूर करने के लिए निकालते है उतना ही हम देखते हैं कि जगत् मे और भी कितना दुःख गुप्त भाव से विद्यमान है। और भी हमने देखा कि सभी धर्म कहते है कि इस दुःखचक्र से बाहर जाने का एक मात्र उपाय ईश्वर है। सभी धर्म कहते है कि आजकल के प्रत्यक्षवादियो के मतानुसार जगत् जिस रूप मे देखने मे आता है उसी रूप मे यदि लिया जाय तो इसमे दुःख को छोड़कर और कुछ भी शेष नही रहेगा। किन्तु सभी धर्म कहते है—इस जगत् के अतीत और भी कुछ है। यह पञ्चेन्द्रियग्राह्य जीवन, यह भौतिक जीवन, केवल यही पर्याप्त नहीं है—यह तो वास्तविक जीवन का अत्यन्त सामान्य अंश मात्र है, वास्तव मे वह अति स्थूल कार्य मात्र है। इसके पीछे, इसके अतीत प्रदेश मे वही अनन्त रहता है, जहाँ दुःख का लेशमात्र भी नहीं है, उसे कोई गॉड, कोई अल्लाह, कोई जिहोवा, कोई जोव और कोई और कुछ कहता है। वेदान्ती इसे ब्रह्म कहते है। किन्तु जगत् के अतीत जाना पड़ेगा यह बात सत्य होने पर

भी हमे इसी जगत् मे जीवनधारण तो करना पड़ेगा। अब इसकी मीमांसा कहाँ है ?

जगत् के बाहर जाना होगा, सभी धर्मों के इस उपदेश से ऊपर ऊपर सोचने पर मन मे यही भावना उदित होती है कि शायद आत्महत्या करना ही श्रेयस्कर है। प्रश्न यही है कि जीवन के दुःखो का प्रतिकार क्या है, और इसका जो उत्तर दिया जाता है उससे तो आपातत' यही बोध होता है कि जीवन का त्याग करना ही इसका एकमात्र उपाय है। इस उत्तर से मेरे मन मे एक प्राचीन कथा याद पडती है। एक मच्छर किसी के मुँह पर बैठा था। उसके एक मित्र ने उस मच्छर को मारने के लिये इतने ज़ोर से मारा कि वह मनुष्य मर गया, और मच्छर भी मर गया ! पूर्वोक्त प्रतिकार का उपाय मानो ठीक इसी प्रणाली का उपदेश देता है।

जीवन दुःखपूर्ण है, यह जगत् दुःखपूर्ण है, यह बात कोई भी व्यक्ति जिसने जगत् को अच्छी तरह जान लिया है, अस्वीकार नही कर सकता। किन्तु सभी धर्म इसका क्या प्रतिकार बताते है ? वे कहते है, जगत् कुछ भी नहीं है। इस जगत् के बाहर ऐसा कुछ है जो वास्तविक सत्य है। इसी स्थान पर वास्तव मे विवाद प्रारम्भ होता है। इस उपाय से मानो हमारा जो कुछ भी है सभी कुछ नष्ट करके फेक देने का उपदेश देते है। तब फिर यह प्रतिकार का उपाय कैसे होगा ? तब क्या कोई उपाय नही है ? एक उपाय और भी कहा जाता है। वह यह है: वेदान्त कहता है—विभिन्न धर्म जो कुछ कहते है सब सत्य है, किन्तु इसका ठीक ठीक अर्थ क्या है, यह समझना होगा। प्राय लोग विभिन्न धर्मों के उपदेशों को ठीक

उलटा ही समझते है, और वे धर्म भी इस विषय में एकदम स्पष्ट करके कुछ भी नही कहते। मस्तिष्क एवं हृदय दोनो की ही हमे आवश्यकता है। हृदय अवश्य ही बहुत श्रेष्ठ है—हृदय के भीतर से ही जीवन को उच्च पथ पर ले जाने वाले महान् भावों का स्फुरण होता है। हृदयशून्य केवल मस्तिष्क की अपेक्षा यदि मेरे पास कुछ भी मस्तिष्क न हो, किन्तु थोडासा भी हृदय रहे तो मै उसे सैकड़ो बार पसन्द करूँगा। जिसके पास हृदय है उसीका जीवन सम्भव है, उसीकी उन्नति सम्भव है, किन्तु जिसके पास तनिक भी हृदय नही है, केवल मस्तिष्क है, वह सूख कर मर जाता है।

किन्तु हम यह भी जानते है कि जो केवल अपने हृदय के द्वारा परिचालित होते है उन्हे अनेक कष्ट भोग करने पड़ते है, कारण उनकी प्राय: ही भ्रम मे पडने की सम्भावना रहती है। हमको चाहिये हृदय और मस्तिष्क का सम्मिलन। मेरे कहने का अर्थ यह नही है कि कुछ हृदय और कुछ मस्तिष्क लेकर हम दोनो का सामञ्जस्य करे, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति का अनन्त हृदय हो और उसके साथ साथ अनन्त परिमाण मे विचारबुद्धि भी रहे।

इस जगत् मे हम जो कुछ चाहते है उसकी क्या कोई सीमा है? क्या जगत् अनन्त नही है? जगत् मे अनन्त परिमाण में भावों के (हृदय के) विकास का और उसके साथ साथ अनन्त परिमाण मे शिक्षा और विचार का भी अवकाश या सम्भावना है। वे दोनों ही अनन्त परिमाण मे आये—वे दोनो ही समानान्तर रेखा मे प्रवाहित होते रहे।

अधिकांश धर्म, 'जगत् मे दुःखराशि विद्यमान है' यह बात समझते है और स्पष्ट भाषा मे ही इसका उल्लेख करते है अवश्य, किन्तु मालूम होता है, सभी एक ही भ्रम मे पड गये है, वे सभी हृदय के द्वारा, भावों के द्वारा परिचालित होते है। जगत् मे दु.ख है, अतएव इसका त्याग करो—यह बहुत अच्छा उपदेश है, एक मात्र उपदेश है, इसमे सन्देह नही। 'ससार का त्याग करो!' सत्य जानने के लिये असत्य का त्याग करना होगा—अच्छी वस्तु पाने के लिये बुरी वस्तु का त्याग करना होगा, जीवन प्राप्त करने के लिये मृत्यु का त्याग करना होगा, इस विषय मे कोई दो मत नहीं हो सकते।

किन्तु यदि इन मतों का यही तात्पर्य है कि पॉच इन्द्रियों का जीवन—हम जिसे जीवन नाम से समझते है, उसका त्याग करना होगा तब फिर हमारे पास क्या शेष रहता है? यदि हम उसे त्याग करे तो हमारे पास कुछ भी नही रहता।

जब हम वेदान्त के दार्शनिक अश की आलोचना करेगे तब हम इस तत्व को और भी अच्छी तरह समझेगे, किन्तु आपाततः मै केवल यही कहना चाहता हूँ कि केवल वेदान्त मे इस समस्या की युक्तिसङ्गत मीमासा मिलती है, इस समय केवल वेदान्त का वास्तव मे उपदेश क्या है, वही कहूँगा—वेदान्त शिक्षा देता है, जगत् को ब्रह्म स्वरूप देखो।

वेदान्त वास्तव में जगत् को एकदम उडा देना नही चाहता। वेदान्त मे जिस प्रकार चूड़ान्त वैराग्य का उपदेश है, और कहीं भी वैसा नहीं है, किन्तु इस वैराग्य का अर्थ आत्महत्या नहीं है—स्वयँ

को सूखा डालता नही है। वेदान्त मे वैराग्य का अर्थ है जगत् का ब्रह्म-भाव—जगत् को हम जिस भाव से देखते है, उसे हम जैसा जानते है, वह जैसा हमे प्रतिभात होता है उसका त्याग करो, और उसके वास्तविक रूप को पहचानो। उसे ब्रह्म रूप में देखो—वास्तव मे वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है, इसी कारण सब से प्राचीन उपनिषद मे—वेदान्त के सम्बन्ध मे जो कुछ भी लिखा गया था उसकी प्रथम पुस्तक मे—हम देखते है, 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्' (ईश० श्लोक १)। 'जगत् मे जो कुछ भी है, उसको ईश्वर के द्वारा आच्छादित करना होगा।'

समस्त जगत् को ईश्वर के द्वारा आच्छादित करना होगा; जगत् मे जो अशुभ दुःख है, उसकी ओर न देख कर, सभी मङ्गलमय है, सभी कुछ सुखमय है अथवा सभी भविष्य मे मङ्गल के लिये है इस प्रकार के भ्रान्त सुखवाद का अवलम्बन करके नहीं, किन्तु वास्तविक रूप से प्रत्येक वस्तु के भीतर ईश्वर का दर्शन करके। इसी रूप से हमे संसार का त्याग करना होगा और जब ससार का त्याग कर दिया तो शेष क्या रहा? ईश्वर। इस उपदेश का तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यही है,—तुम्हारी स्त्री भी रहे, उससे कोई हानि नही है, उसको छोडकर जाना होगा इसका कोई अर्थ नही, किन्तु इसी स्त्री मे तुम्हे ईश्वर-दर्शन करना होगा। सन्तात का त्याग करो—इसका अर्थ क्या है? क्या बाल-बच्चों को लेकर रास्ते मे फेक देना होगा—जैसा कि सभी देशों मे नर-पशु किया करते हैं? कभी नहीं—यह तो पैशाचिक काण्ड है—यह तो धर्म नहीं है। फिर क्या करो? सन्तान आदि मे ही ईश्वर का दर्शन करो। इसी

प्रकार सभी वस्तुओं मे, जीवन मे, मरण मे, सुख मे, दुःख मे—सभी अवस्थाओं मे समस्त जगत् ईश्वर से पूर्ण है। केवल ऑखे खोल कर उसका दर्शन करो। वेदान्त यही कहता है; तुम जगत् को जिस रूप मे अनुमान करते हो उसे छोड़ो, कारण तुम्हारा अनुमान अत्यन्त कम अनुभूति के ऊपर—बिलकुल सामान्य युक्ति के ऊपर—स्पष्ट शब्दों मे, तुम्हारी अपनी दुर्बलता के ऊपर स्थापित है। यह आनुमानिक ज्ञान छोड़ो—हम इतने दिन जगत् को जिस रूप मे समझते थे, इतने दिन जिसमे अत्यन्त आसक्त थे वह हमारे द्वारा ही सृष्ट मिथ्या जगत् मात्र है। इसको छोडो। ऑखे खोल कर देखो, हम अब तक जिस रूप मे जगत् को देखते थे, वास्तव मे उसका अस्तित्व वैसा कभी नही था—हम स्वप्न में इस प्रकार देखते थे—माया से आच्छन्न होने के कारण यह भ्रम हमे होता था। अनन्त काल से लेकर वे ही एक मात्र प्रभु विद्यमान थे। वे ही सन्तान के भीतर, वे ही स्त्री मे, वे ही स्वामी मे, वे ही अच्छे मे, वे ही बुरे मे, वे ही पाप मे, वे ही पापी मे, वे ही हत्याकारी मे, वे ही जीवन मे एवं वे ही मरण मे वर्तमान है।

प्रस्ताव तो अवश्य कठिन है।

किन्तु वेदान्त इसी को प्रमाणित करना, शिक्षा देना और प्रचार करना चाहता है। यही विषय लेकर वेदान्त का आरम्भ होता है।

हम इसी प्रकार सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन करके जीवन की विपत्तियो और दु.खो को हटा सकते है। कुछ इच्छा मत करो। कौन हमे दु.खी करता है? हम जो कुछ भी दु.ख भोग करते है, वासना से ही उसकी उत्पत्ति होती है। तुम्हे कुछ अभाव है, वह पूरा नही होता, फल दुःख। अभाव यदि न रहे तो दुःख भी नही होगा। जब हम सब

वासनाओ का त्याग कर देंगे तब क्या होगा ? दीवार मे कोई वासना नहीं है, उसे कोई दुःख नही भोगना होता। ठीक है, परन्तु वह कभी उन्नति भी नही करती। इस कुर्सी मे कोई वासना नही है, कोई कष्ट भी उसे नही है, परन्तु यह जो कुर्सी है, कुर्सी ही रहेगी। सुखभोगो के भीतर भी एक महानता है और दु.खभोगों के भीतर भी। यदि साहस करके कहा जाय तो यह भी कह सकते है कि दु ख की भी उपकारिता है। हम सभी जानते है कि दुःख से कितनी बडी शिक्षा मिलती है। हमने जीवन मे ऐसे सैकड़ों कार्य किये है जिनके विषय मे बाद मे लगता है कि वे न किये जाते तो अच्छा होता, किन्तु यह होने पर भी ये सब कार्य हमारे लिये महान् शिक्षक का कार्य करते है। मैं अपने सम्बन्ध मे कह सकता हूँ कि मैने कुछ अच्छे कार्य किये है यह सोच कर भी मै आनन्दित हूँ और अनेक बुरे कार्य किये हैं यह सोच कर भी आनन्दित हूँ। मैने कुछ सत्कार्य किया है इसलिये भी सुखी हूँ और अनेक भ्रमो मे भी मै पड़ा हूँ इसलिये भी सुखी हूँ. कारण उनमे से प्रत्येक ने ही मुझे कुछ न कुछ उच्च शिक्षा दी है।

मै इस समय जो कुछ भी हूँ वह अपने पूर्व कर्मों और विचारो का फलस्वरूप हूँ। प्रत्येक कार्य और चिन्ता का एक न एक फल अवश्य ही है और मोटे तौर से मैने यही उन्नति की है कि मै बड़े सुख से समय काट रहा हूँ। तब भी इस समय समस्या कठिन आ पडी है। हम सभी जानते है कि वासना बड़ी बुरी चीज़ है. किन्तु वासना-त्याग का अर्थ क्या है ? शरीर-रक्षा किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर भी पहले की भाँति आपातत यही मिलेगा कि आत्म-हत्या करो। वासना का सहार करो और उसके साथ ही वासनायुक्त

मनुष्य को भी मार डालो। किन्तु इसका उत्तर यही है,—तुम विषयों को ही न रक्खो, यह बात नही है; आवश्यक वस्तुये, यहाँ तक कि विलास की सामग्री भी न रक्खो, यह वात नही है। तुम्हारी जो भी आवश्यक वस्तुये, यहाँ तक कि उनसे अतिरिक्त वस्तुये भी तुम रख सकते हो—इससे कुछ भी क्षति नहीं है। किन्तु तुम्हारा प्रथम और प्रधान कर्तव्य यही है कि तुम्हे सत्य को जानना पडेगा, उसको प्रत्यक्ष करना होगा। यह जो धन है—यह किसी का नहीं है। किसी भी पदार्थ मे स्वामित्व का भाव मत रक्खो। तुम तो कोई नहीं हो, मै भी कोई नही हूँ, कोई भी कोई नही है। सब उसी प्रभु की वस्तुये है; ईशोपनिषद् के प्रथम श्लोक मे सभी जगह ईश्वर का स्थापन करने के लिये कहा गया है। ईश्वर तुम्हारे भोग्य धन मे है, तुम्हारे मन मे जो सब वासनाये उठती है उनमे है, अपनी वासना मे रहकर तुम जो जो द्रव्य खरीदते हो उसमे वह है, तुम्हारे सुन्दर वस्त्रो मे भी वह है, तुम्हारे सुन्दर अलङ्कारो मे भी वह है। इसी प्रकार से विचार करना पड़ेगा। इसी प्रकार सब वस्तुओ को देखना आरम्भ करने पर तुम्हारी दृष्टि मे सभी कुछ परिवर्तित हो जायगा। यदि तुम अपनी प्रत्येक गति मे, अपने वस्त्रो मे, अपनी बोलचाल मे, अपने शरीर मे, अपने चेहरे मे—सभी वस्तुओ मे भगवान् की स्थापना कर लो तो तुम्हारी आँखों मे सम्पूर्ण दृश्य बदल जायगा और जगत् दुःखमय न लगकर स्वर्ग मे परिणत हो जायगा।

"स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है"। वेदान्त कहता है कि वह पहले से ही तुम्हारे भीतर मौजूद है। और सभी धर्म यही बात कहते

है, सभी महापुरुष यह बात कहते है। 'जिसके पास देखने के लिये ऑख है वह देखे; जिसके पास सुनने के लिये कान है वह सुने।' वह पहले से ही तुम्हारे अन्दर मौजूद है और वेदान्त उसका केवल उल्लेख मात्र करता हो यह बात नही है, वह उसे युक्तियो द्वारा प्रमाणित भी करने को प्रस्तुत है। अज्ञान के कारण हम सोचते थे कि हमने उसे खो दिया है और समस्त जगत् में उसको पाने के लिये केवल रोते, कष्ट भोगते घूमते फिरते रहे, किन्तु वह सदा ही हमारे अन्तर के अन्तस्तल मे वर्तमान था। इसी तत्वदृष्टि की सहायता से जगत् मे जीवन काटना पड़ेगा। यदि 'संसार त्याग करो' यह उपदेश सत्य हो और इसको यदि उस प्राचीन स्थूल अर्थ मे ग्रहण किया जाय तो यही फल निकलता है कि हमे कोई कार्य करने की आवश्यकता नही है, आलसी होकर मिट्टी के ढेले की भॉति बैठे रहना ही ठीक होगा, कोई चिन्ता करने की या कोई कार्य करने की तनिक भी आवश्यकता नही है. अदृष्टवादी होकर, घटनाचक्र से ताडित होकर, प्राकृतिक नियमो के द्वारा परिचालित होकर इधर उधर घूमते रहने से ही काम चल जायेगा; यही फल निकलता है। किन्तु पूर्वोक्त उपदेश का अर्थ वास्तव मे यह नहीं है। हम लोगों को कार्य अवश्य ही करना पड़ेगा। साधारण मनुष्य जो व्यर्थ की वासनाओ के चक्र मे पडकर इधर उधर भटकते फिरते है, वे कार्य के सम्बन्ध मे क्या जानते हैं? जो व्यक्ति अपने भावो और इन्द्रियो के द्वारा परिचालित है वह कार्य को क्या समझता है? कार्य वही कर सकता है जो किसी वासना के द्वारा, किसी स्वार्थपरता के द्वारा परिचालित नही है। वे ही कार्य कर सकते हैं जिनकी कोई कामना

-नही है। वे ही कार्य कर सकते है जो कार्य से किसी लाभ की प्रत्याशा नही करते।

एक चित्र का अधिक भोग कौन करता है? चित्र का बेचने वाला अथवा देखने वाला। विक्रेता तो उसके हिसाब-किताब में ही व्यस्त रहता है, उसको कितना लाभ होगा इत्यादि चिन्ताओं में ही वह मग्न रहता है। ये ही सब विषय उसके मस्तिष्क में सदा घूमते रहते है। वह केवल नीलाम के हथौड़े की ओर लक्ष्य रखता है और क्या भाव पडा यही सुनता रहता है। भाव किस तरह बढ़ता जा रहा है यही सुनने मे वह व्यस्त है। चित्र देख कर आनन्द का उपभोग वह कब करेगा? वे ही चित्र का सम्भोग कर सकते हैं जिनको उस चित्र की बिक्री-खरीद से कोई मतलब नहीं है। वे चित्र की ओर ताकते रहते है और असीम आनन्द का उपभोग करते है। इसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड एक चित्र के समान है, जब वासना बिलकुल चली जायगी तभी लोग जगत् का संभोग कर सकेंगे, तब यह बेचने खरीदने का भाव, यह भ्रमात्मक स्वामित्व का भाव नही रहेगा। उस समय न ऋण देने वाला है, न खरीदने वाला है, न बेचने वाला है, और जगत् उस समय एक सुन्दर चित्र के समान हो जाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में नीचे लिखी हुई बात से अधिक सुन्दर बात मैने नही देखी--'वही महान कवि है, प्राचीन कवि है, समस्त जगत् उसकी कविता है, वह अनन्त आनन्दोच्छ्वास में लिखी हुई और नाना प्रकार के श्लोकों, छन्दों और तालों मे प्रकाशित है, वासना का त्याग कर लेने पर ही हम ईश्वर की इस विश्वकविता का पाठ और सम्भोग कर पायेंगे। उस समय सब वस्तुये ब्रह्मभाव धारण

कर लेगी। संसार का प्रत्येक कोना, प्रत्येक अँधेरी गली, वीहड़ मार्ग और सभी छिपे हुये स्थान जिन्हे हमने पहले इतना अपवित्र समझा था, जिन सब के ऊपर का दाग हमे इतना काला दीखता था, सब कुछ ब्रह्मभाव धारण कर लेगा। वे सभी अपने प्रकृत स्वरूप को प्रकाशित करेगे। तब हम अपने आप ही हँसेगे और सोचेगे, यह सब रोदन और चीत्कार केवल बच्चों का खेल है, और हम जननी रूप मे खड़े होकर बराबर यह खेल देख रहे थे।

वेदान्त कहता है कि इस प्रकार के भाव को आश्रय करने से ही हम ठीक ठीक कार्य करने मे समर्थ होगे। वेदान्त हमे कार्य करने का निषेध नही करता, परन्तु यह भी कहता है कि पहले संसार का त्याग करना होगा, इस आपातप्रतीयमान माया के जगत् का त्याग करना होगा। इस त्याग का अर्थ क्या है? पहले ही कहा जा चुका है कि त्याग का प्रकृत अर्थ है सब जगह ईश्वरदर्शन, सब जगह ईश्वरबुद्धि कर लेने पर ही हम वास्तविक कार्य करने में समर्थ होंगे। यदि इच्छा हो तो सौ वर्ष जीने की इच्छा करो, जितनी भी सांसारिक वासनाये हैं, सब भोग कर लो, केवल उन सब को ब्रह्मस्वरूप मे दर्शन करो, उनको स्वर्गीय भावना मे परिणत कर लो, उसके बाद चाहे सौ वर्ष जीवन धारण करो। इस जगत् मे दीर्घ काल तक आनन्दपूर्ण होकर कार्य करते हुये सम्भोग करने की इच्छा करो। इसी प्रकार कार्य करने पर तुम्हे वास्तविक मार्ग मिल जायगा। इसे छोड कर अन्य कोई मार्ग नहीं है। जो व्यक्ति सत्य को न जान कर अबोध की भाँति ससार के विलास-विभ्रम मे निमग्न होता है, समझ लो कि उसे प्रकृत मार्ग मिला नहीं, उसका पैर फिसल गया है। दूसरी ओर जो

व्यक्ति जगत् को त्याग कर वन मे जाकर अपने शरीर को कष्ट देता है, धीरे धीरे सुखा कर अपने को मार डालता है, अपने हृदय को शुष्क मरुभूमि वना डालता है, अपने सभी भावो को मार डालता है, और कठोर, बीभत्स और रूखा हो जाता है, समझ लो कि वह भी मार्ग भूल गया है। ये दोनो दो सिरे की बाते है, दोनो ही भ्रम है, एक इस ओर, दूसरा दूसरी ओर। दोनो ही लक्ष्यभ्रष्ट है, दोनो ही पथभ्रष्ट है।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार कार्य करो—सभी वस्तुओं मे ईश्वरवुद्धि करो, समझो कि वह सब मे है, अपने जीवन को भी ईश्वर से अनुप्राणित, यहाँ तक कि उसे ईश्वररूप ही समझो—यह जान लो कि यही हमारा एक मात्र कर्तव्य है, केवल यही हमारे लिये जानने की एक मात्र वस्तु है—कारण ईश्वर सभी वस्तुओं मे विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिये और कहाँ जाओगे? प्रत्येक कार्य मे, प्रत्येक भाव मे, प्रत्येक चिन्ता मे वह पहले से ही स्थित है। इसी प्रकार समझकर हमे अवश्य ही कार्य करते जाना होगा। यही एक मात्र पथ है, अन्य नही। इस प्रकार करने पर कर्मफल तुमको लगेगा नही। कर्मफल तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं कर पायेगा। हम देख ही चुके है कि हम जो कुछ भी कष्ट भोग करते है उसका कारण ये ही सब व्यर्थ की वासनाये है। परन्तु जब इन वासनाओ मे ईश्वरबुद्धि के द्वारा वे पवित्र भाव धारण कर लेती है, ईश्वरस्वरूप हो जाती है, तब उनके आने से भी फिर कोई अनिष्ट नही होता। जिन्होंने इस रहस्य को नही जाना है, उनको इसे जानने से पहले तक इसी आसुरी जगत् मे रहना पडेगा। लोग नही जानते कि यहाँ उनके चारों ओर सर्वत्र कितने अनन्त

आनन्द की खान पड़ी हुई है, किन्तु वे उसको खोज निकाल नहीं पाते। आसुरी जगत् का अर्थ क्या है? वेदान्त कहता है—अज्ञान।

वेदान्त कहता है कि हम अनन्त जल से पूर्ण नदी के तट पर रह कर भी प्यास से मर रहे है। ढेरो खाद्य सामने रखा है, फिर भी भूखों मर रहे है। यह आनन्दमय जगत् यहीं विद्यमान है। परन्तु हम उसे खोज नहीं पाते। हम उसी में रह रहे है। वह सर्वदा ही हमारे चारो ओर रहता है, परन्तु हम उसे सदा ही कुछ और समझ कर भ्रम मे पड़ जाते हैं। विभिन्न सभी धर्म हमारे सामने उस आनन्दमय जगत् को दिखाने को आगे आते हैं। सभी हृदय इस आनद की खोज कर रहे है। सभी जातियो ने इसकी खोज की है, धर्मों का यही एक मात्र लक्ष्य है, और यही आदर्श विभिन्न भाषाओ मे भी प्रकाशित हुआ है; भिन्न भिन्न धर्मों मे जो सब छोटे छोटे मतभेद है, वे सब केवल कहने के दॉवपेच है, वास्तव मे कुछ भी नहीं है। एक व्यक्ति एक भाव को एक प्रकार से प्रकट करता है, दूसरा दूसरी प्रकार, किन्तु मै जो कुछ कहता हूँ, शायद तुम वही बात दूसरे प्रकार की भाषा मे व्यक्त कर रहे हो। फिर भी मै शायद अकेले ही प्रसिद्ध होने की आशा मे, अथवा अपने मन के अनुसार चलना पसन्द करता हूँ और इसलिये कहता हूँ—'यह मेरा मौलिक मत है।' इन्ही कारणो से हमारे जीवन मे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है।

इस सम्बन्ध मे अब और भी प्रश्न आते है। जो ऊपर कहा गया है वह मुख से कह देना तो अत्यन्त सरल है। बचपन से ही सुनता आ रहा हूँ—सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि करो—सब ब्रह्ममय हो जायगा—

तब सभी विषयों का वास्तविक सम्भोग कर पाओगे, किन्तु जैसे ही हम संसारेक्षत्र मे उतर कर कुछ धक्के खाते है वैसे ही हमारी सब ब्रह्मबुद्धि उड़ जाती है। मै मार्ग मे सोचता जा रहा हूँ, सभी मनुष्यो मे ईश्वर विराजमान है—एक बलवान् मनुष्य ने आकर मुझे धक्का दिया, बस मै चित होकर गिर पडा। झट उठा, रक्त मस्तक में चढ़ गया—मुट्ठी बँध गई—विचारशक्ति नष्ट होगई। बिलकुल उन्मत्त हो उठा, स्मृति लुप्त हो गई—उस व्यक्ति के अन्दर ईश्वर को न देखकर मैने भूत देखा। जन्म के साथ ही साथ उपदेश मिलता है, सर्वत्र ईश्वरदर्शन करो, सभी धर्म यही सिखाते है—सभी वस्तुओ मे, सब प्राणियों के अन्दर, सर्वत्र ईश्वरदर्शन करो। न्यू टेस्टामेण्ट मे ईसामसीह ने भी इस विषय मे स्पष्ट उपदेश दिया है। हम सभी ने यह उपदेश पाया है—किन्तु काम के समय ही हमारा गोलमाल प्रारम्भ हो जाता है। ईसप् की कहानियों मे एक कथा है। एक विशालकाय सुन्दर हरिण तालाब मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने बच्चे से कहने लगा, "देखो, मै कितना बलवान् हूँ, मेरा मस्तक देखो कैसा भव्य है, मेरे हाथ पाँव देखो कैसे दृढ़ और मांसल है, मै कितना तेज दौड़ सकता हूँ।" यह बात कहते ही उसने दूर से कुत्तो के भौकने का शब्द सुना। सुनते ही वह ज़ोर से भागा। बहुत दूर दौडने के बाद हाँफते हाँफते फिर बच्चे के पास आया। बच्चा बोला, 'अभी तो तुम कह रहे थे, मै बडा बलवान् हूँ, फिर कुत्तो का शब्द सुनकर भागे क्यों?' हरिण बोला–'यही तो बात है, कुत्तो की भों भो सुनकर ही मेरा सब ज्ञान लुप्त हो जाता है।' हम लोग भी जीवन भर यही करते रहते है। हम इस दुर्बल मनुष्य जाति के सम्बन्ध मे कितनी आशाये बाँधते रहते है, किन्तु कुत्तों के भौकते ही हरिण की भाँति भाग खड़े होते हैं! यदि

ऐसा है तो यह सब शिक्षा देने की क्या आवश्यकता है ? अत्यधिक आवश्यकता है। समझ रखना चाहिये, एक दिन मे कुछ नही हो जाता।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' आत्मा के सम्बन्ध मे पहले सुनना होगा, उसके बाद मनन अर्थात् चिन्ता करनी होगी, उसके बाद लगातार ध्यान करना होगा। सभी आकाश देख पाते है, और तो क्या, जो छोटे कीड़े भूमि पर फिरते रहते है वे भी ऊपर की ओर देखने पर नील वर्ण आकाश को देखते है, किन्तु वह हमारे पास से कितनी-कितनी दूर है—बोलो तो! इच्छा करने पर तो मन सभी जगह जा सकता है, किन्तु इस शरीर को प्रयत्न करके चलना सीखने मे ही कितना समय बीत जाता है। हमारे सभी आदर्शों के सम्बन्ध मे भी यही बात है। आदर्श हमसे बहुत दूर है, और हम उनसे बहुत नीचे पडे हुये है, तथापि हम जानते है कि हमे एक आदर्श मान कर रखना आवश्यक है। इतना ही नही, हमे सर्वोच्च आदर्श रखना ही आवश्यक है। अधिकांश व्यक्ति इस जगत् मे कोई आदर्श लिये बिना ही जीवन के इस अन्धकारमय पथ पर भटकते फिरते है। जिसका एक निश्चित आदर्श है वह यदि एक हज़ार भूलों मे पड सकता है तो जिसका कोई भी आदर्श नही है वह दस हज़ार भूल करेगा यह निश्चय है। अतएव एक आदर्श रखना ही अच्छा है। इस आदर्श के सम्बन्ध मे जितना हो सके सुनना होगा; उतने दिन सुनना होगा जितने दिन वह हमारे अन्तर मे प्रवेश नही करता, हमारे मस्तिष्क में प्रवेश नहीं करता, जब तक वह हमारे रक्त के भीतर प्रवेश नहीं करता, जब

तक वह हमारे रक्त के प्रत्येक बिन्दु मे, कण कण में प्रवेश नहीं करता, जब तक वह हमारे शरीर के अणु-परमाणु मे व्याप्त नहीं हो जाता। अतएव यह आत्मतत्व पहले हमे सुनना होगा। कहा गया है कि 'हृदय भावोच्छ्वासो से पूर्ण होने पर ही मुख वाक्य का उच्चारण करता है।' इसी प्रकार हृदय पूर्ण होने पर हाथ भी कार्य करता है।

चिन्ता ही हमारी कार्यप्रवृत्ति की नियामक है। मन को सर्वोच्च चिन्ता द्वारा पूर्ण करके रक्खो, दिनानुदिन ये सभी भाव सुनते रहो, मास प्रति मास इसका चिन्तन करो। पहले पहल सफलता न मिले; कोई हानि नहीं, यह विफलता तो स्वाभाविक ही है, यह तो मानव-जीवन का सौन्दर्य स्वरूप है। इस प्रकार की विफलता न होती तो जीवन क्या होता? यदि जीवन मे इस विफलता को जय करने की चेष्टा न रहती, तो जीवन धारण करने का कोई प्रयोजन ही न रह जाता। उसके न रहने पर जीवन की कविता कहाँ रहती? यह विफलता, यह भ्रम रहने से भी क्या हर्ज है? गाय कभी झूठ बोलते नही सुनी जाती, किन्तु वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य कभी नही हो जाती। अतएव बार बार असफल हो जाओ तो भी कोई हानि नही है, सहस्रों बार, बार बार इस आदर्श को हृदय मे धारण करो, किन्तु सहस्र बार असफल होने पर फिर एक बार प्रयत्न करो। सब जीवो मे ब्रह्मदर्शन ही मनुष्य का आदर्श है। यदि सब वस्तुओ मे उसको देखने मे तुम सफल न हो तो कम से कम एक ऐसे व्यक्ति मे कि जिसको तुम सब से अधिक प्रेम करते हो, उसका दर्शन करने की चेष्टा करो—उसके बाद एक अन्य व्यक्ति मे दर्शन करने की चेष्टा करो—इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो।

आत्मा के सम्मुख तो अनन्त जीवन पड़ा हुआ है—अध्यवसाय के साथ चेष्टा करने पर तुम्हारी वासना अवश्य पूर्ण होगी।

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत।
तत्र को मोह. कः शोक एकत्वमनुपश्यत.॥

(ईशोपनिषद्, ४–७ श्लोक)

"वह अचल है, एक है, मन से भी अधिक द्रुत गति वाला है। इन्द्रियाँ उसके पूर्व चल कर भी उसको प्राप्त नहीं होतीं। वह स्थिर रह कर भी अन्यान्य द्रुतगामी पदार्थों से आगे जानेवाला है। उसमे रह कर ही हिरण्यगर्भ सब के कर्मफलो का विधान करते है। वह चञ्चल है, वह स्थिर है, वह दूर है, वह निकट है, इस सब के भीतर है, फिर भी वह इस सब के बाहर भी है। जो आत्मा के अन्दर सब भूतो का दर्शन करते है, और सब भूतो मे आत्मा का दर्शन करते है वे कुछ भी छिपाने की इच्छा नही करते। जिस अवस्था मे ज्ञानी व्यक्ति के लिये समस्त भूत आत्मस्वरूप हो जाते हैं, उस अवस्था मे उस एकत्वदर्शी पुरुष को शोक अथवा मोह कहाँ रह सकता है?"

सब पदार्थों का यह एकत्व वेदान्त का और एक प्रधान विषय है। हम आगे चल कर देखेंगे कि किस प्रकार वेदान्त सिद्ध करता है कि हमारा समस्त दुःख अज्ञान से उत्पन्न है; वह अज्ञान और कुछ नहीं—यही बहुत्व की धारणा है—यह धारणा कि मनुष्य मनुष्य से भिन्न है, पुरुष और स्त्री भिन्न है, युवा और शिशु भिन्न है, जाति जाति से भिन्न है, पृथिवी चन्द्र से पृथक् है, एक परमाणु दूसरे परमाणु से पृथक् है यह ज्ञान ही वास्तव मे सब दुःखों का कारण है। वेदान्त कहता है कि यह भेद वास्तविक नहीं है। यह भेद केवल भासित होता है, ऊपर से दीख पड़ता है। वस्तुओं के अन्तस्तल में वही एकत्व विराजमान है। यदि तुम भीतर जाकर देखो तो इस एकत्व को देखोगे—मनुष्य मनुष्य का एकत्व, नर नारी का एकत्व, जाति जाति का एकत्व, ऊँच नीच का एकत्व, धनी और दरिद्र का एकत्व, देवता और मनुष्य का एकत्व। सभी तो एक है—और यदि और भी भीतर प्रवेश करो तो देखोगे—अन्य प्राणी भी एक ही हैं। जो इस प्रकार एकत्वदर्शी हो चुके है उनको फिर मोह नही रहता। वे अब उसी एकत्व मे पहुँच गये है, जिसको धर्मविज्ञान मे ईश्वर कहते है। उनको अब मोह कैसे रह सकता है? मोह उसको उत्पन्न ही कैसे होगा? उन्होंने सभी वस्तुओं का आभ्यन्तरिक सत्य जान लिया है, सभी का रहस्य जान लिया है। उनके लिये अब दुःख कैसे रह सकता है? वे अब क्या वासना-कामना करेंगे? वे सभी वस्तुओ के अन्दर वास्तविक सत्य की खोज करके ईश्वर तक पहुँच गये है, जो जगत् का केन्द्रस्वरूप है, जो सभी वस्तुओ का एकत्व-स्वरूप है। यही अनन्त सत्ता है, यही अनन्त ज्ञान है, यही अनन्त आनन्द है। वहाँ मृत्यु नही, रोग नहीं, दुःख नही, शोक नहीं,

अशान्ति नहीं। है केवल पूर्ण एकत्व—पूर्ण आनन्द। तब वे किसके लिये शोक करेगे[1] वास्तव मे उस केन्द्र मे, उस परम सत्य मे मृत्यु नही है, दुःख नहीं है, किसी के लिये शोक करना नहीं है, किसी के लिये दुःख करना नहीं है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(ईशोपनिषद्, ८ वॉ श्लोक)

"वह चारों ओर से घेरे हुये है, वह उज्ज्वल है, देहशून्य है, व्रणशून्य है, स्नायुशून्य है, वह पवित्र और निष्पाप है, वह कवि है, मन का नियामक है, सब से श्रेष्ठ और स्वयम्भू है; वह सर्वदा ही यथायोग्य सभी के काम्य वस्तुओ का विधान करता है।" जो इस अविद्यामय जगत् की उपासना करता है वह अन्धकार मे प्रवेश करता है। जो इस जगत् को ब्रह्म के समान सत्य समझकर उसकी उपासना करते है वे अन्धकार मे भ्रमण करते हैं, किन्तु जो आजीवन इस संसार की उपासना करते हैं, उससे ऊपर और कुछ भी लाभ नही कर पाते, वे और भी घने अन्धकार मे प्रवेश करते है। किन्तु जिन्होने इस परम सुन्दर प्रकृति का रहस्य जान लिया है, जो प्रकृति की सहायता से दैवी प्रकृति का चिन्तन करते है वे मृत्यु का अतिक्रमण करते है एव दैवी प्रकृति की सहायता से अमरत्व का भोग करते है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥

(ईश० उप० १५-१६)

" हे सूर्य, हिरण्मय (स्वर्ण के) पात्र द्वारा तुमने सत्य का मुख ढँक रक्खा है। सत्य धर्म वाला मै जिससे उसे देख पाऊं, इसके लिये उसको हटा दो। ... मै तुम्हारा परम रमणीय रूप देखता हूँ—तुम्हारे अन्दर जो यह पुरुष है वह मै ही हूँ। "

१२. अपरोक्षानुभूति

मै तुम लोगों को एक और उपनिषद से कुछ अंश पढ़कर सुनाऊँगा। यह अत्यन्त सरल एवं अतिशय कवित्वपूर्ण है। इसका नाम है कठोपनिषद्। सर एडविन अर्नाल्ड कृत इसका अनुवाद शायद तुममे से वहुतो ने पढ़ा होगा। हम लोगो ने पहले देखा ही है कि जगत् की सृष्टि कहाँ से हुई। इस प्रश्न का उत्तर बाह्य जगत् से नहीं पाया जा सकता, अतः इस प्रश्न के समाधान के लिये लोगो की दृष्टि अन्तर्जगत् की ओर आकृष्ट हुई। कठोपनिषद् मे मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे यह अनुसन्धान आरम्भ हुआ है। पहले यह प्रश्न होता था कि इस वाह्य जगत् की सृष्टि किसने की? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? —इत्यादि। किन्तु अव यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि मनुष्य के अन्दर कौन सी ऐसी वस्तु है जो उसे जीवित रखती है और उसे चलाती है, एवं मृत्यु के वाद मनुष्य का क्या होता है? पहले मनुष्य ने इस जड़ जगत् को लेकर क्रमशः इसके आभ्यन्तर मे पहुँचने की चेष्टा की थी और इससे उसने पाया जगत् का एक जवरदस्त शासक—एक व्यक्ति—एक मनुष्य मात्र। हो सकता है कि मनुष्य के गुणसमूह को अनन्त परिमाण मे वढ़ाकर, वे उसके नाम के साथ जोड दिए गये हो, किन्तु कार्यतः वह एक मनुष्य मात्र है। परन्तु यह मीमासा कभी पूर्ण सत्य नहीं हो सकती। अधिक से अधिक इसे आंशिक सत्य कह सकते है। हम लोग इस जगत् को मानवीय दृष्टि से देखते है, और हमलोगो का ईश्वर इस जगत् की मानवीय व्याख्या मात्र है।

कल्पना करो, एक गाय दार्शनिक और धर्मज्ञ हुई—वह जगत् को अपनी गो-दृष्टि से देखेगी, वह जब इस समस्या की मीमांसा करेगी तो गाय के भाव से ही करेगी, और वह हमारे ही ईश्वर को देखेगी, ऐसी भी कोई बात नहीं। इसी प्रकार यदि कोई बिल्ली दार्शनिक हो तो वह बिडाल-जगत् को ही देखेगी, वह यही सिद्धान्त रखेगी कि कोई बिड़ाल ही इस जगत् का शासन कर रहा है। अतएव हम लोग देखते है कि जगत् के सम्बन्ध मे हमलोगों की व्याख्या पूर्ण नहीं है, और हम लोगों की धारणा भी जगत् के सर्वांश को स्पर्श करनेवाली नही है। मनुष्य जिस भाव से जगत् के सम्बन्ध मे भयानक स्वार्थपर मीमांसा करता है, उसे ग्रहण करने पर भ्रम में ही पड़ना होगा। बाह्य जगत् से जगत् के सम्बन्ध में जो मीमासा प्राप्त होती है, उसमे दोष यही है कि जिस जगत् को हम लोग देखते है, वह हम लोगो का अपना जगत् मात्र है, सत्य के सम्बन्ध मे जितनी हमारी दृष्टि है वस उतना ही है। प्रकृत सत्य वह परमार्थ वस्तु कभी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकती, किन्तु हम लोग जगत् को उतना ही जानते है जितना पचेन्द्रियविशिष्ट प्राणियों की दृष्टि मे पड़ता है। कल्पना करो, हम लोगो की एक इन्द्रिय और हुई, उसके होने से समस्त ब्रह्माण्ड हम लोगो की दृष्टि मे अवश्य ही और एक रूप धारण करेगा। कल्पना करो, हम लोगो को एक चौम्बक (Magnetic) इन्द्रिय प्राप्त हुई—जगत् मे इस प्रकार की लाखों शक्तियाँ है, जिनकी उपलब्धि के लिये हम लोगो के पास कोई इन्द्रिय नहीं है—उस समय उन सब की उपलब्धि हमे होने लगेगी। हमलोगों की इन्द्रियॉ सीमाबद्ध है, वस्तुतः अत्यन्त सीमाबद्ध है, और इन सीमाओ के भीतर ही हम लोगो का समस्त जगत् अवस्थित है एवं हम लोगो

का ईश्वर हमारे इस क्षुद्र जगत् की समस्या का मीमांसा मात्र है। किन्तु वह कभी भी पूर्ण समस्या की मीमासा नही हो सकता। यह तो असंभव व्यापार है। यथार्थ रूप से कहा जाय तो वह कोई मीमांसा ही नही है। किन्तु मनुष्य तो चुप होकर रह नहीं सकता, वह तो चिन्ताशील प्राणी है, इसलिए वह ऐसी एक मीमांसा करना चाहता है जिससे जगत् की सभी समस्याओं की मीमांसा हो जाय।

पहले इस प्रकार के एक जगत् का आविष्कार करो, इस प्रकार के एक पदार्थ का आविष्कार करो जो सम्पूर्ण जगत् का एक साधारण तत्त्व स्वरूप हो—जिसे हमलोग इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कर सके या न कर सके किन्तु जिसे हम युक्ति-बल से सम्पूर्ण जगत् की नीव कह सके तथा सम्पूर्ण जगत् के भीतर मणिमालामध्यस्थित सूत्र स्वरूप कह सके। यदि हमलोग इस प्रकार के एक पदार्थ का आविष्कार कर सके, जो इन्द्रियगोचर न हो सकने पर भी केवल अकाट्य युक्तिवल से सभी प्रचार के अस्तित्व की भित्तिभूमि कहलाकर प्रमाणित किया जा सके। ऐसा होने पर हम कहेगे कि हम लोगो की समस्या कुछ मीमासोन्मुख हुई। अतएव यह स्थिर सिद्धान्त है कि हमारे इस दृष्टिगोचर ज्ञात जगत् से इस मीमासा के पाने की कोई सभावना नही, क्योकि यह समग्र भाव का केवल अशविशेष मात्र है।

अतएव जगत् के अन्त.प्रदेश मे प्रवेश करना ही इस समस्या की मीमांसा का एक मात्र उपाय है। अति प्राचीन मननशील महात्मागण यह समझ सके थे कि वे केन्द्र से जितना दूर जाते है उतना ही वे उस अखण्ड वस्तु से दूर होते जाते है, और केन्द्र के जितने निकटवर्ती होते है उतने ही वे उसके निकट पहुँचते जाते है। हमलोग

इस केन्द्र के जितने निकटवर्ती होते है उतने ही हम सब जिस साधारण भूमि पर एकत्रित हो सकते है उस भूमि के निकट उपस्थित होते हैं और हमलोग उससे जितना दूर जाते है उतना ही हमलोगों के साथ दूसरों का विशेष पार्थक्य आरम्भ हो जाता है। यह बाह्य जगत् उस केन्द्र से बहुत दूर है, अतएव इसमे कोई ऐसी साधारण भूमि नहीं हो सकती जहाँ पर सम्पूर्ण अस्तित्व-समष्टि की एक साधारण मीमांसा हो सके। यह जगत् सम्पूर्ण अस्तित्व का अधिक से अधिक एकांशमात्र है और भी कितने व्यापार है; जैसे मनोजगत् का व्यापार, नैतिक जगत का व्यापार और बुद्धिराज्य का सम्पूर्ण व्यापार, आदि आदि। इन सभों मे से केवल एक को लेकर उससे समुदय जगत्-समस्या की मीमांसा करना असम्भव है। अतएव हमे प्रथमतः कहीं एक ऐसे केन्द्र का आविष्कार करना होगा, जिससे अन्यान्य समुदय विभिन्न लोकों की उत्पत्ति हुई है। फिर हम इस प्रश्न की मीमांसा की चेष्टा करेंगे। यही इस समय प्रस्तावित विषय है। वह केन्द्र कहाँ है? वह हमलोगो के भीतर है—इस मनुष्य के भीतर जो मनुष्य रहता है, वही यह केन्द्र है। लगातार भीतर की ओर अग्रसर होते होते महापुरुषो ने देखा कि जीवात्मा का गम्भीरतम प्रदेश ही समुदय ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। जितने प्रकार के अस्तित्व हैं, सभी आकर उसी एक केन्द्र में एकीभूत होते है। वस्तुतः यही स्थान समुदय की एक साधारण भूमि है। इस स्थान पर आकर हम एक सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँच सकते है। अतएव किसने इस जगत् की सृष्टि की है?—यह प्रश्न विशेष दार्शनिक युक्तिसिद्ध नही है, और न उसकी मीमांसा ही किसी काम की है।

पहले जो मैंने कठोपनिषद् की चर्चा की है, उसकी भाषा बहुत अलंकारपूर्ण है। अति प्राचीन काल मे एक बड़े धनी व्यक्ति थे।

उन्होने एक समय एक यज्ञ किया। उस यज्ञ मे सर्वस्वदान करने का नियम था। इस यज्ञकर्ता व्यक्ति का बाहर और भीतर समान नही था। वह यज्ञ करके खूब मान और यश पाने की इच्छा रखता था। किन्तु यज्ञ मे वह ऐसी सभी वस्तुओ का दान करता था, जो व्यवहार मे पूर्णतः अनुपयुक्त थी। उसने कितनी ही जराजीर्ण, अर्धमृत, बन्ध्या, एक आँखवाली और लँगड़ी गाये ब्राह्मणो को दान मे दी। उसका एक छोटा पुत्र था, जिसका नाम था नचिकेता। उसने देखा, उसके पिता ठीक ठीक अपना व्रत-पालन नहीं कर रहे है, अपितु वे व्रत का भग कर रहे है, अतएव वह निश्चय नहीं कर पाया कि वह उनसे क्या कहे। भारतवर्ष मे माता-पिता प्रत्यक्ष जीवन्त देवता माने जाते है। उनके सामने सन्तान कुछ कहने या करने का साहस नही करता है, केवल चुप होकर वे खडे रहते है। अतएव उस बालक ने पिता के सम्मुख साक्षात् विरोध करने मे असमर्थ हो, उनसे केवल यही पूछा—"पिताजी, आप मुझे किस को देगे? आपने तो यज्ञ मे सर्वस्वदान का सकल्प किया है।" यह सुनकर पिता विरक्त हुए और बोले—"हे वत्स, तू क्या कह रहा है? भला पिता अपने पुत्र का दान करेगा, यह कैसी बात है?" पर बालक ने दूसरी बार, तीसरी बार बारम्बार पिता से यही प्रश्न किया, तब पिता क्रुद्ध होकर बोले—"तुझे मै यम को दे दूँगा।" उसके बाद आख्यायिका ऐसी है कि वह बालक यम के घर गया। आदिमानव मृत होकर यमदेवता होते हैं, वे स्वर्ग जाकर समुदय पितृगण के शासनकर्ता होते है। अच्छे व्यक्ति मृत्यु प्राप्त कर यम के निकट अनेक दिनो तक रहते है। ये यम एक अत्यन्त शुद्धस्वभाव साधुपुरुष कहकर वर्णित है। वह बालक नचिकेता यमलोक को

गया। देवता भी समय समय पर अपने घर मे नहीं रहते है। यमराज उस समय घर पर नहीं थे, इसलिये उस बालक को तीन दिन तक उसी तरह उनकी प्रतीक्षा मे रहना पड़ा। चौथे दिन यम अपने घर आये।

यम बोले, "हे विद्वान्! तुम पूजनीय अतिथि होकर भी तीन दिन तक बिना कुछ खाये पिए हमारे घर मे रहे। हे ब्रह्मन्! तुम्हे प्रणाम है, हमारा कल्याण हो। मै घर पर नहीं था, इसका मुझे बहुत दुःख है। किन्तु मै इस अपराध के प्रायश्चित्त स्वरूप तुम्हें प्रत्येक दिन के लिये एक एक करके तीन वर देने को प्रस्तुत हूँ, तुम वर माँगो।" बालक ने पहला वर यह माँगा—"आप मुझे पहला वर यह दीजिये जिससे कि मेरे पति पिताजी का क्रोध दूर हो जाय, वे जिससे मेरे प्रति प्रसन्न हों, और जब आप मुझे प्रस्थान करने के लिये आज्ञा देगे और जब मैं पिता के निकट जाऊँ तो उस समय वे मुझे पहचान सके।" यम ने कहा—'तथास्तु'। नचिकेता ने द्वितीय वर मे स्वर्ग पहुँचाने वाले यज्ञविशेष के विषय मे जानने की इच्छा की। हमने पहले ही देखा है, वेद के संहिता-भाग मे हमलोग केवल स्वर्ग की बात पाते हैं। वहाँ सबका शरीर ज्योतिर्मय होता है, और वे अपने पूर्व पूर्व पितरो के साथ वहाँ वास करते है। क्रमशः अन्यान्य भाव आये, किन्तु इन सभों से लोगों के प्राण पूर्ण तृप्त न हो सके। इस स्वर्ग से भी कुछ उच्चतर उन्हे आवश्यक ज्ञात हुआ। स्वर्ग मे रहना इस जगत् मे रहने की अपेक्षा कुछ भिन्न नही है। जिस प्रकार एक स्वस्थ धनिक नवयुवक का जीवन होता है, उसी प्रकार स्वर्गीय जीवों का भी जीवन होता है, भेद केवल इतना है कि उनकी भोग-सामग्री होती है और उनका शरीर नीरोग, स्वस्थ एवं अधिक बलशाली

होता है। यह सब तो जड़ जगत् की ही वस्तु ठहरी, इससे कुछ अधिक अच्छी अवश्य है बस इतना ही। और जब हमने पहले ही देखा है कि यह जड जगत् पूर्वोक्त समस्या की कोई मीमांसा नहीं कर सकता, तो स्वर्ग से भी उसकी क्या मीमांसा हो सकती है ? इसलिये स्वर्ग के ऊपर स्वर्ग की कितनी भी कल्पना क्यों न करो, परन्तु समस्या की उपयुक्त मीमांसा इससे नही हो सकती । यदि यह जगत् इस समस्या की कोई मीमांसा नही कर सकता, तो इस तरह के चाहे कितने भी जगत् हों वे किस तरह इसकी मीमांसा करेंगे । कारण, हमे स्मरण रखना उचित है कि स्थूल भूत प्राकृतिक समुदय व्यापारों का एक अत्यन्त सामान्य अश मात्र है। हम लोग जिन अगण्य घटनाओं को वास्तविक देखा करते है, वे भौतिक नहीं है ।

अपने जीवन के प्रति क्षण को देखिये, मालूम होगा कि हमारे चिन्तन के व्यापार कितने है, और बाहर की वास्तविक घटनाये कितनी है। कितनो का तुम केवल अनुभव करते हो, और कितनों का वास्तविक दर्शन तथा स्पर्श करते हो ? यह जीवन-प्रवाह कितने प्रबल वेग से चलता है—इसका कार्यक्षेत्र भी कितना विस्तृत है—किन्तु इसमे मानसिक घटनाओं की तुलना मे इन्द्रियग्राह्य व्यापार कितना स्वल्प है ! स्वर्गवाद का भ्रम यही है कि वह कहता है कि हम लोगो का जीवन और जीवन की घटनावली केवल रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द मे ही आवद्ध है। किन्तु इस स्वर्ग से, जहाँ पर ज्योतिर्मय शरीर मिलता है, अधिकाश लोगो को तृप्ति नहीं हुई। तथापि इस जगह नचिकेता ने द्वितीय वर से स्वर्ग-प्रापक यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान की प्रार्थना की है। वेद के प्राचीन भाग मे वर्णित है कि देवतागण यज्ञ द्वारा सतुष्ट होकर लोगो को स्वर्ग ले जाते है।

सभी धर्मों की आलोचना करने पर निश्चित रूप से यह सिद्धान्त लब्ध होता है कि जो कुछ प्राचीन होता है वही कालान्तर मे पवित्र रूप मे परिणत हो जाता है। हमारे पूर्वपुरुष भोजपत्र पर लिखते थे, अन्त में उन्होने कागज बनाने की प्रणाली सीखी, परन्तु इस समय भी भोज-पत्र पवित्र कहा जाता है। प्राय: ९–१० हजार वर्ष पूर्व हमारे पूर्वपुरुष लकडी से लकड़ी घिसकर अग्नि प्रज्वलित करते थे, वही प्रणाली आज भी वर्तमान है। यज्ञ के समय किसी दूसरी प्रणाली द्वारा अग्नि प्रज्वलित करने से काम नही चलेगा। एशियावासी आर्यगणो की और एक शाखा के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। इस समय भी उनके वर्तमान वशधर वैद्युताग्नि सग्रहकर उसकी रक्षा करना अच्छा समझते है। इससे प्रमाणित होता है कि ये लोग पहले इस तरह अग्नि का सग्रह करते थे; बाद मे दो लकडियो को घिसकर अग्नि उत्पादन करना इन्होने सीखा, फिर जब अग्नि–उत्पादन करने के अन्यान्य उपाय उन्होने सीखे, उस समय भी पहले के उपायो का परित्याग नही किया। वे सब उपाय पवित्र आचारो मे परिणत होगये।

हिब्रुओं के सम्बन्ध मे भी यही हाल है। उनके पूर्वज पार्चमेन्ट (Parchment) पर लिखते थे। इस समय वे लोग कागज पर लिखते है, किन्तु पार्चमेन्ट पर लिखना उनकी दृष्टि मे महा पवित्र आचार है। इसी तरह सभी जातियो के सम्बन्ध मे है। इस समय जो आचार शुद्धाचार कहलाये जाते है, वे प्राचीन प्रथा मात्र है। यज्ञ भी इसी तरह प्राचीन प्रथा मात्र थे। कालक्रम से जब लोग पहले की अपेक्षा उत्तम रीति से जीवन–निर्वाह करने लगे, उस समय उनकी सभी धारणायें पूर्व की अपेक्षा अधिक उन्नत हुईं, किन्तु ये प्राचीन प्रथाये रह गयीं।

समय समय पर इन सभो का अनुष्ठान होता था और वे पवित्र आचार माने जाने लगे। उसके वाद कुछ व्यक्तियो ने इस यज्ञ-कार्य के निर्वाह का भार अपने ऊपर ले लिया। यही लोग पुरोहित हुए। ये यज्ञ के सम्वन्ध मे गम्भीर गवेषणा करने लगे। यज्ञ ही इन लोगो का सर्वस्व हो गया। उन लोगों की यह धारणा उस समय बद्धमूल हुई कि देवता लोग यज्ञ के गंध का आघ्राण करने के लिये आते है। यज्ञ की शक्ति से संसार मे सब कुछ हो सकता है। यदि निर्दिष्ट सख्या मे आहुतियाँ दी जायँ, कुछ विशेष विशेष स्तोत्रो का पाठ हो, विशेष आकार वाली कुछ वेदियो का निर्माण हो, तो देवता सब कुछ कर सकते हैं, इत्यादि मतवादो की सृष्टि हुई। नचिकेता इसी लिये दूसरे वर द्वारा जिज्ञासा करता है कि किस तरह के यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है। उसके वाद नचिकेता ने तीसरे वर की प्रार्थना की, और यही से प्रकृत उपनिषद् का आरम्भ है। नचिकेता वोला—"कोई कोई कहते है, मृत्यु के वाद आत्मा रहती है, कोई कोई कहते हैं, आत्मा मृत्यु के वाद नही रहती। आप मुझे इस विषय का यथार्थ तत्व समझा दे।"

यम भयभीत होगये। उन्होंने परम आनन्द के साथ नचिकेता के प्रथमोक्त दोनो वरो को पूर्ण किया था। इस समय वे वोले, —"प्राचीन काल मे देवतागण इस विषय मे सदिग्ध थे। यह सूक्ष्म धर्म सुविज्ञेय नही है। हे नचिकेता! तुम कोई दूसरा वर माँगो। मुझसे इस विषय मे और अधिक अनुरोध न करो, मुझे छोड दो।"

नचिकेता दृढप्रतिज्ञ था, वह वोला—"हे मृत्यो! सुना है, देवतालोगो ने भी इस विषय मे सदेह किया था, और इसे समझना

भी सरल वात नहीं है, यह बात सत्य है। किन्तु मैं आपके सदृश इस विषय का कोई दूसरा वक्ता भी नहीं पा सकता, और इस वर के समान दूसरा कोई वर भी नहीं है।"

यम बोले--"हे नचिकेता! शतायु पुत्र, पौत्र, पशु, हाथी, सोना, घोडा आदि माँग लो। इस पृथ्वी के ऊपर राज्य करो, एवं जितने दिन तुम जीने की इच्छा करो उतने दिन तक जीवित रहो। इसके समान और कोई दूसरा वर यदि तुम्हारे मन मे हो तो उसे भी माँग लो, अथवा धन और दीर्घ जीवन की प्रार्थना कर लो। अथवा हे नचिकेता! तुम विस्तृत पृथ्वीमण्डल पर राज्य करो, मै तुम्हे सभी प्रकार की काम्यवस्तुओं से संयुक्त करूँगा। पृथ्वी में जो जो काम्य-वस्तुएँ दुर्लभ है, उनकी प्रार्थना करो। गीत और वाद्य मे विशारद इन रथारूढ रमणियों को मनुष्य नहीं पा सकता। हे नचिकेता! इन सभी रमणियों को मैं तुम्हे देता हूँ, ये तुम्हारी सेवा करेगी, किन्तु तुम मृत्यु के सम्बन्ध मे जिज्ञासा मत करो।"

नचिकेता ने कहा--"ये सभी वस्तुएँ केवल दो दिनों के लिये है, ये इन्द्रियों के तेज को हरण करती है। अतिदीर्घ जीवन भी अनन्त काल की तुलना में वस्तुतः अत्यन्त अल्प है। इसलिये ये हाथी, घोड़े, रथ, गीत, वाद्य आदि तुम्हारे ही पास रहे। मनुष्य धन से कभी तृप्त नहीं हो सकता। जब मै तुम्हे देखूँगा ही, तो इस वित्त की चिर-काल के लिये किस तरह रक्षा कर सकूँगा? तुम जितने दिन तक इच्छा करोगे, मैं उतने ही दिन तक जीवित रह सकूँगा। मैने जिस वर की प्रार्थना की है, केवल वही वर मै चाहता हूँ।"

यम इस समय सतुष्ट हुए। वे बोले--"परमकल्याण (श्रेय) और आपातरम्य भोग (प्रेय) इन दोनों का उद्देश्य भिन्न है, ये दोनों

ही मनुष्यों को बद्ध करते है। जो इनमे से श्रेय को ग्रहण करते है, उनका कल्याण होता है, और जो आपातरम्य भोग को ग्रहण करते है, वे लक्ष्यभ्रष्ट होते हैं। ये श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के समीप उपस्थित होते है। ज्ञानी दोनों पर विचार कर एक को दूसरे से पृथक् जानते है। वे श्रेय को प्रेय से श्रेष्ठ समझकर स्वीकार करते है, किन्तु अज्ञानी पुरुष अपने शारीरिक सुख के लिये प्रेय को ही ग्रहण करते हैं। हे नचिकेता ! तुमने आपातरम्य समग्र विषयो की नश्वरता समझ कर उन सभों को छोड दिया है।" इन वचनों से नचिकेता की प्रशंसा कर अन्त में यम ने उसे परम तत्व का उपदेश देना आरम्भ किया।

यहाँ पर हमे वैदिक वैराग्य और नीति की अत्युन्नत धारणा प्राप्त हुई कि जितने दिन तक मनुष्य की भोगवासना का त्याग नहीं होता, उतने दिन तक उसके हृदय मे सत्य-ज्योति का प्रकाश नहीं हो सकता। जितने दिन तक ये तुच्छ विषयवासनाये तुमुल कोलाहल करती है, जितने दिन तक प्रति मुहूर्त वे हमलोगों को खीच कर बाहर ले जाती हैं—लेजाकर हमे प्रत्येक बाह्य वस्तु का, एक बिन्दु रूप का, एक बिन्दु रस का, एक बिन्दु स्पर्श का दास बनाती है, उतने दिन चाहे जितना हम ज्ञान का अभिमान क्यो न करे, हमलोगों के हृदय मे सत्य किस तरह प्रकाशित हो सकता है?

यम बोले-"जिस आत्मा के सम्बन्ध मे, जिस परलोकतत्व के सम्बन्ध मे तुमने प्रश्न किया है, वह वित्त-मोह से मूढ़ बालको के हृदय मे प्रतिभात नहीं हो सकता है। इसी जगत् का अस्तित्व है, परलोक का नहीं, यह माननेवाले बारम्बार मेरे वश मे आते हैं।"

फिर यह सत्य समझना भी कठिन है। बहुत से तो लगातार इस विषय को सुन कर भी समझ नही पाते, इस विषय का वक्ता भी आश्चर्यजनक होना आवश्यक है और श्रोता भी। गुरु का भी अद्भुत शक्तिसम्पन्न होना आवश्यक है और शिष्य भी उसी तरह का होना ज़रूरी है। मन को फिर वृथा तर्क के द्वारा चचल करना उचित नही है। कारण, परमार्थ तत्व तर्क का विषय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमलोग बराबर सुनते आरहे है कि प्रत्येक धर्म विश्वास करने पर जोर देता है। हमलोगों के कानों में तो अन्ध विश्वास शब्द ही भर दिया गया है।

यह अन्ध विश्वास सचमुच ही बुरी वस्तु है, इसमे कोई संदेह नही। पर यदि इस अंध विश्वास का हम विश्लेषण करके देखे तो ज्ञात होगा कि इसके पीछे एक महान् सत्य है। जो लोग अन्ध विश्वास की बात कहते है, उनका वास्तविक उद्देश्य यही अपरोक्षानुभूति है जिसकी हम इस समय आलोचना कर रहे है। मन को व्यर्थ ही तर्क के द्वारा चचल करने से काम नही चलेगा, क्योकि तर्क से कभी ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय है, तर्क का नही। समुदय तर्क ही कुछ सिद्धान्तो के ऊपर स्थापित है। इन सिद्धान्तों को छोडकर तर्क हो ही नहीं सकता। हमलोगों ने जिन्हे पहले निश्चत रूप मे प्रत्यक्ष कर लिया है, उस तरह के कुछ विषयो की तुलना की प्रणाली को युक्ति कहा जाता है। इन निश्चित प्रत्यक्ष विषयों के न होने पर युक्ति चल ही नहीं सकती। और बाह्य जगत् के सबन्ध में यदि यह सत्य है, तो अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी ऐसा ही क्यों न होगा?

हम लोग वारंवार इस भ्रम मे पड़ते है। हम जानते है कि सभी वाह्य विषय प्रत्यक्ष के ऊपर ही निर्भर रहते हैं। वाह्य विषयों पर विश्वास करने को तुमसे कोई नहीं कहता और न उनके पारस्परिक सम्बन्ध विषयक नियम किसी युक्ति पर निर्भर हैं, किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा वे लब्ध होते है। फिर सभी तर्क कुछ प्रत्यक्षानुभूतियो के ऊपर स्थापित है। रसायनवेत्ता कुछ द्रव्य लेते हैं—उससे और कुछ द्रव्य उत्पन्न होते है। यह एक घटना है। हम उसे स्पष्ट देखते है, प्रत्यक्ष करते है, एवं उसे नींव मान कर हम रसायन-शास्त्र का विचार करते है। पदार्थ-तत्ववेत्ता भी वैसा ही करते है—सभी विज्ञान के विषय मे यही हाल है। सभी प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष के ऊपर स्थापित है। उसके ऊपर निर्भर रहकर ही हमलोग विचार-युक्ति किया करते हैं। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश लोग, विशेषत: वर्तमान काल मे, सोचा करते है कि धर्मतत्त्व मे प्रत्यक्ष करने को कुछ नहीं है—यदि कुछ धर्मतत्व लाभ करना होगा तो वह वाह्य वृथा तर्क के द्वारा ही होगा। किन्तु वास्तविक धर्म वातो का विषय नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमे अपनी आत्मा के अन्दर अन्वेषण करके देखना होगा कि वहाँ क्या है। हमे उसे समझना होगा और जिसे हम समझेगे उसका साक्षात्कार करना होगा। यही धर्म है। चाहे कितना ही चीत्कार क्यो न करो, परन्तु वह धर्म नहीं हो सकता। अतएव एक कोई ईश्वर है या नहीं, यह व्यर्थ तर्कों के द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योकि युक्ति दोनों ओर समान है। किन्तु यदि कोई ईश्वर है, तो वह हमारे अन्तर में ही है। तुमने क्या कभी उसे देखा है? यही प्रश्न है। जिस तरह जगत् का अस्तित्व है या नहीं—इस प्रश्न की मीमांसा अभीतक

नही हो सकी इसी प्रकार प्रत्यक्षवाद और विज्ञानवाद (Idealism) का तर्क अनंत काल से चला आरहा है। इस प्रकार का तर्क निश्चय ही चलता है, परन्तु हम जानते है कि जगत् है और वह चल रहा है। हमलोग केवल एक शब्द का भिन्न भिन्न अर्थ करके यह तर्क किया करते है। हमारे जीवन के अन्यान्य सभी प्रश्नों के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है—हमे प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करनी होगी। जैसे बाह्य विज्ञान मे—उसी तरह परमार्थ विज्ञान मे भी हमें कुछ पारमार्थिक व्यापार को प्रत्यक्ष करना होगा। उसी पर धर्म स्थापित होगा। अवश्य ही किसी भी धर्म के किसी भी मत में विश्वास रखना होगा, इस युक्तिहीन दावे मे कोई आस्था नहीं की जा सकती। उससे मनुष्य के मन की अवनति होती है। जो व्यक्ति तुम्हे सभी विषयों मे विश्वास करने को कहता है, वह अपने को भी नीचे गिराता है, और यदि तुम उसके वचनो पर विश्वास करते हो तो वह तुम्हे भी नीचे गिराता है। जगत् के साधुगणो को हमसे केवल यही कहने का अधिकार है कि उन्होंने अपने मन का विश्लेषण किया है तथा उन्होने कुछ सत्य पाया भी है, हम भी वैसा करे, फिर हम उन पर विश्वास करेगे, उसके पहले नहीं। यही धर्म का सार है। किन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जो धर्म के विरुद्ध तर्क करते है, उनमे से निन्यान्नवे प्रतिशत व्यक्ति अपने मन का विश्लेषण करके नहीं देखते, वे सत्य को पाने की चेष्टा नही करते। इसलिये धर्म के विरोध मे उनकी युक्ति का कोई मूल्य नहीं है। यदि कोई अन्धा मनुष्य निश्चय करके कहे, "तुम लोग, जो कि सूर्य के अस्तित्व मे विश्वास करनेवाले हो. सभी भ्रान्त हो" तो उसके इस वाक्य का जितना मूल्य होगा, उतना ही मूल्य इनके वाक्य का होगा। इसलिये जो अपने मन का विश्लेषण नहीं करते और धर्म को एकदम

उड़ा देने, और लोप करने में अग्रसर है, उनकी बातो मे हमे थोड़ी भी आस्था करने की आवश्यकता नहीं।

इस विषय को ही विशेषतया समझना एवं अपरोक्षानुभूति का भाव मन मे सर्वदा जागरूक रखना उचित है। धर्म लेकर ये सब झगडे, मारामारी, विवाद-विसंवाद उसी समय चले जायँगे, जब कि हम समझेगे कि धर्म किसी ग्रन्थविशेष या मन्दिरविशेष मे बँधा हुआ नहीं है, अथवा इन्द्रिय द्वारा भी उसका अनुभव सम्भव नही है। यह अतीन्द्रिय तत्त्व की अपरोक्षानुभूति है। जिन व्यक्तियो ने वास्तविक ईश्वर एव आत्मा की उपलब्धि की है, वे ही प्रकृत धार्मिक है और यह प्रत्यानुभूति न होने पर उच्चतम धर्मशास्त्रवेत्ता जो धाराप्रवाह धर्म-वक्तृता दे सकते हैं उनमे तथा अत्यन्त सामान्य अज्ञ जड़वादी में कोई भेद नही है। हम सब नास्तिक है, इसे हम लोग क्यो नहीं मान लेते? केवल विचारपूर्वक धर्म के समग्र सत्य मे संमति देने मात्र से हम धार्मिक नही हो सकते। एक ईसाई या मुसलमान अथवा अन्य किसी दूसरे धर्मानुयायी की बात लो। ईसा के उस पर्वत पर के धर्मोपदेश का स्मरण करो। जो कोई व्यक्ति इस उपदेश को कार्य-रूप मे परिणत कर सके, वह उसी क्षण देवता हो सकता है, सिद्ध हो सकता है। तथापि कहा गया है कि पृथ्वी मे इतने करोड़ ईसाई है। क्या तुम कहना चाहते हो, ये सभी ईसाई है? वास्तविक इसका अर्थ यह है कि ये किसी न किसी समय इस उपदेश के अनुसार कार्य करने की चेष्टा कर सकते है। दो करोड लोगो मे एक भी सच्चा ईसाई है या नहीं. इसमें संदेह है।

भारतवर्ष मे भी इस तरह कहा गया है कि तीस कोटि वेदान्ती हैं। यदि प्रत्यक्षानुभूति-सम्पन्न व्यक्ति हजार में एक भी होते,

तो यह जगत् पॉच मिनट मे कुछ दूसरा ही हो जाता। हम सभी नास्तिक है, परन्तु जो व्यक्ति उसे स्पष्ट स्वीकार करता है, उससे हम विवाद करने को प्रस्तुत होते है। हम लोग सभी अन्धकार मे पड़े हुए है। धर्म हम लोगों के समीप मानो कुछ नहीं है, केवल विचारलब्ध कुछ मतों का अनुमोदन मात्र है, केवल मुँह की बात है—अमुक व्यक्ति खूब अच्छी तरह से बोल सकता है, अमुक व्यक्ति नहीं बोल सकता, यही हमलोगों का धर्म है—शब्द-योजना करने की सुन्दर कुशलता, अलङ्कारिक शब्दों मे वर्णन करने की क्षमता, शास्त्रों के श्लोकों की अनेक प्रकार से व्याख्या, ये सभी केवल पण्डितों के आमोद के निमित्त है—मुक्ति के लिये नहीं। आत्मा की जब यह प्रत्यक्षानुभूति आरम्भ होगी, तभी धर्म आरम्भ होगा। उसी समय तुम धार्मिक होगे, एवं उसी समय, केवल उसी समय नैतिक जीवन भी प्रारम्भ होगा। इस समय हम रास्ते के पशुओं की अपेक्षा भी कोई विशेष अधिक नीति-परायण नहीं है। हमलोग इस समय केवल समाज के शासन के भय से ही कुछ गडबड़ नहीं करते। यदि समाज आज कहे—चोरी करने से अब दण्ड नहीं मिलेगा तो हमलोग इसी समय दूसरे की सम्पत्ति लूटने के लिये व्यग्र होकर दौड़ पड़ेगे। हम लोगों के सच्चरित्र होने मे एकमात्र कारण पुलिस है। सामाजिक प्रतिष्ठा-लोप की आशंका ही हमलोगों के नीतिपरायण होने मे बहुधा कारण है, और वस्तुस्थिति तो यह है कि हम पशुओ से बिलकुल थोडासा ही उन्नत है। हम लोग जब अपने अपने घर के एकान्त कोने मे बैठकर अपने हृदय के भीतर अनुसधान करेगे तभी समझ सकेगे कि यह बात कितनी सत्य है। अतएव आओ, हमलोग इस कपटता का त्याग करे। आओ, स्वीकार करे कि हमलोग धार्मिक नही है और दूसरों के प्रति घृणा करने का

हमारा कोई अधिकार नहीं है। हम सभों के बीच वास्तव मे भ्रातृ-सम्बन्ध है, और हमे धर्म की जब प्रत्यक्षानुभूति होगी तभी हम नीति-परायण होने की आशा कर सकते है।

कल्पना करो तुमने कोई देश देखा है। कोई व्यक्ति तुम्हे काट कर टुकड़े टुकड़े कर फेक दे सकता है। परन्तु तुम अपने हृदय के भीतर कभी भी ऐसी बात नहीं सोच सकते कि मैने उस देश को देखा है। अवश्य ऐसा हो सकता है कि शारीरिक बल-प्रयोग के कारण तुम कह दो—मैने उस देश को नहीं देखा है, किन्तु तुम अपने मन मे जानते हो कि तुमने उस देश को देखा है। बाह्य जगत् को तुम जिस तरह प्रत्यक्ष करते हो, जिस समय इससे भी अधिक उज्ज्वल भाव से धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार होगा, तब कुछ भी तुम्हारे विश्वास को नष्ट नहीं कर सकता। उसी समय प्रकृत विश्वास का आरम्भ होगा। "जिसे एक सरसो मात्र भी विश्वास है, वह पहाड़ के पास जाकर कहे कि तुम हट जाओ तो पहाड़ भी उसकी बात सुनेगा।" बाइबिल की इस कथा का तात्पर्य यही है। उस समय स्वय सत्यस्वरूप हो जाने के कारण तुम सत्य को जान सकोगे। केवल विचारपूर्वक सत्य के विषय मे समति देने से कोई लाभ नहीं है।

एक मात्र बात यही है कि क्या तुम्हे प्रत्यक्षानुभूति हुई है? वेदान्त की मूल बात यही है—धर्म का साक्षात्कार करो—केवल कहने से कुछ न होगा, किन्तु साक्षात्कार करना बहुत कठिन है। जो परमाणु के अन्दर अति गुह्य रूप से रहते है, वही पुराण पुरुष, वही प्रत्येक मानव-हृदय के गुह्यतम प्रदेश में निवास करते है, साधु पुरुषो ने उन्हें अन्तर्दृष्टि द्वारा उपलब्ध किया है और तभी वे सुख-दुःख दोनो

से पार होगये है, हम लोग जिसे धर्म कहते है, और जिसे अधर्म कहते है, और शुभाशुभ सब कर्म, एवं सत् असत्, इन सभों से वे पार होगये है,—जिन्होंने उन्हे देखा है, उन्होंने ही यथार्थ सत्य का दर्शन किया है। किन्तु फिर स्वर्ग का क्या हुआ ? स्वर्ग के सम्बन्ध मे हम लोगों की ऐसी धारणा है कि वह दुःखशून्य सुख है; अर्थात् हम संसार के सभी सुख चाहते है, और उसके दुःखों को केवल छोड़ देना चाहते है। अवश्य यह अत्यन्त सुन्दर धारणा है, यह स्वाभाविक भाव से ही आती है, किन्तु यह धारणा सम्पूर्ण भ्रमात्मक है, कारण, पूर्ण सुख या पूर्ण दुःख नाम का कोई पदार्थ नही है।

रोम मे एक व्यक्ति बड़ा धनी था। उसने एक दिन सुना कि उसकी सम्पत्ति मे केवल दस लाख पौण्ड शेष है। सुनते ही उसने कहा —तब मै कल क्या करूँगा ? और यह कह कर उसी समय उसने आत्महत्या कर ली ! दस लाख पौण्ड उसके लिये दारिद्र्यसूचक था, किन्तु हम लोगो के लिये वैसा नही है। वह तो हमारे सम्पूर्ण जीवन की आवश्यकता से भी अधिक है। वास्तविक सुख ही क्या है, और दुःख ही क्या ? वे लगातार विभिन्न रूप धारण करते रहते है। मै जब छोटा था, तो सोचता था—जब मै गाड़ी चलाने लगूँगा तो सुख की पराकाष्ठा को प्राप्त करूँगा। इस समय मै ऐसा नहीं समझता। अब तुम कौनसे सुख को पकड़े रहोगे ? यही हमे विशेषकर समझने की चेष्टा करना उचित है। और हमारा यह कुसस्कार नष्ट होने मे बहुत विलम्ब लगता है। प्रत्येक के सुख की धारणा अलग अलग है। हमने एक आदमी को देखा है, जो प्रतिदिन प्रचुर अफीम खाये विना सुखी नही होता था। वह शायद सोचता होगा, स्वर्ग की मिट्टी अफीम की ही बनी

होगी! किन्तु हमारी दृष्टि मे वह स्वर्ग सुविधाजनक न होगा। हम लोग बारबार अरबी कविता मे पढ़ते है, स्वर्ग अनेक प्रकार के मनोहर उद्यानों से पूर्ण है, उसमे अनेक नदियॉ बहती है। मैंने अपना अधिकांश जीवन एक ऐसे स्थान मे बिताया है, जहॉ जल प्रचुर मात्रा मे है, कितने ही गाव और हजारो लोग प्रतिवर्ष बाढ़ मे मृत्यु के मुख मे चले जाते है। अतएव मेरा स्वर्ग नदीप्रवाहयुक्त एवं उद्यानपूर्ण नहीं हो सकता; मेरा स्वर्ग तो शुष्कभूमिपूर्ण तथा अधिक वर्षारहित होना आवश्यक है। हमारे जीवन के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है, सुख की हमारी धारणा क्रमश: बदलती रहती है। युवक यदि स्वर्ग की कल्पना करे तो उसका स्वर्ग परम सुन्दर रमणीयों से परिपूर्ण होना आवश्यक है। वही व्यक्ति आगे चल कर वृद्ध होने पर उसे स्त्री की आवश्यकता फिर न रहेगी। हमारा प्रयोजन ही हमारे स्वर्ग का निर्माता है, और हमारे प्रयोजन के परिवर्तन के साथ साथ हमारा स्वर्ग भी भिन्न भिन्न रूप धारण करता है। यदि हम इस प्रकार के एक स्वर्ग में जायॅ जहॉ अनन्त इन्द्रिय-सुख का लाभ होगा तो उस जगह हमारी कोई विशेष उन्नति नही हो सकती। जो विषयभोग को ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य मानते है वे ही इस प्रकार के स्वर्ग की प्रार्थना किया करते है। यह वास्तविक मंगलकारी न होकर महा अमगलकारी होगा। यही क्या हमारी अन्तिम गति है? थोडा हॅसना-रोना, उसके बाद कुत्ते के समान मृत्यु! जिस समय तुम लोग इन सब विषय-भोगों की प्रार्थना करते हो, उस समय तुम यह नही जानते कि मानव जाति के लिये जो अत्यत अमगलकारक है, उसकी तुम कामना करते हो—वास्तविक ऐहिक सुखभोग की कामना करके तुम वैसा ही करते हो, क्योकि तुम यह नहीं जानते कि प्रकृत आनन्द क्या है।

वस्तुतः दर्शनशास्त्र मे आनन्दत्याग करने का उपदेश नहीं दिया गया है। प्रकृत आनन्द क्या है इसी का उपदेश दिया गया है। नार्वे-वासियों की स्वर्ग के सम्बन्ध में धारणा ऐसी है कि वह एक भयानक युद्धक्षेत्र है, वहाँ सभी लोग जाकर वोडन (woden) देवता के सम्मुख बैठते है। कुछ समय के बाद जंगली सूअरों का शिकार आरम्भ होता है। बाद मे वे आपस में ही युद्ध करते हैं और एक दूसरे को खण्ड विखण्ड कर डालते है। किन्तु इस प्रकार के युद्ध के थोड़ी देर बाद ही किसी न किसी रूप से उन लोगों के घाव ठीक हो जाते है, उस समय वे एक हॉल मे जाकर उसी सूअर के मांस को पका कर खाते तथा आमोद-प्रमोद करते है। उसके दूसरे दिन वह सूअर जीवित हो जाता है और फिर उसी तरह शिकार आदि होता है। यह हमारी धारणा के अनुरूप ही है, अन्तर इतना ही है कि हमारी धारणा कुछ अधिक परिष्कृत है। इस प्रकार हम सभी सूअर का शिकार करना चाहते है—हम एक ऐसे स्थान में जाना चाहते है, यहाँ ये भोग पूर्ण-मात्रा मे लगातार चलते रहे—ठीक उसी प्रकार जैसे नार्वेवासी सूअर की कल्पना करते है।

दर्शनशास्त्र के मत मे निरपेक्ष अपरिणामी आनन्द नामक पदार्थ है, अतएव हम साधारणतया जो ऐहिक सुखोपभोग करते है, उसके साथ इस सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु फिर वेदान्त ही केवल प्रमाणित करता है कि इस जगत् मे जो कुछ आनन्दकारी है, वह उसी प्रकृत आनन्द का अंश मात्र है, क्योंकि उस ब्रह्मानन्द का ही वास्तविक अस्तित्व है। हम प्रतिक्षण उसी ब्रह्मानन्द का उपभोग करते है, किन्तु यह नहीं जानते कि वह ब्रह्मानन्द है। जहाँ

कहीं किसी प्रकार का आनंद देखोगे, यहाँ तक कि चोरों को चोरी मे जो आनन्द मिलता है, वह भी वस्तुतः वही पूर्णानन्द है; अन्तर यही है कि वह कुछ बाह्य वस्तुओं के संपर्क से मलीन हो गया है। किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये पहले हमे समस्त ऐहिक सुखभोग का त्याग करना होगा। उसका त्याग करने पर ही प्रकृत आनन्द की साक्षात् उपलब्धि होगी। पहेल अज्ञान, मिथ्या का त्याग करना होगा, तभी सत्य का प्रकाश होगा। जब हम सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ सकेंगे, तब पहले हमने जो कुछ भी त्याग किया था वही फिर एक दूसरा रूप धारण करेगा, एक नवीन आकार मे प्रतिभात होगा, उस समय समस्त ब्रह्माण्ड ही ब्रह्ममय हो जायगा, उस समय सभी कुछ उन्नत भाव को धारण करेगा, उस समय हम सभी पदार्थों को नवीन आलोक मे देखेंगे। किन्तु पहले हमे उन्हीं सब का त्याग करना होगा; बाद मे सत्य का अन्तत. एक बिन्दु आभास पाने पर फिर हम उन सभो को ग्रहण करलेगे, किन्तु अन्य रूप मे—ब्रह्माकार मे—परिणत रूप मे। अतएव हमे सुख-दुःख सभी का त्याग करना होगा। ये सब उस प्रकृत वस्तु का, उसे चाहे सुख कहो या दुःख, विभिन्न क्रम मात्र है। 'सभी वेद जिसकी घोषणा करते हैं, सभी प्रकार की तपस्याये जिसकी प्राप्ति के लिये की जाती है, जिसे पाने की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते है, हम सक्षेप मे उसी के सम्बन्ध मे तुम्हे बतायँगे, वह ॐ है।' वेद मे इस ॐ कार की अतिशय महिमा और पवित्रता वर्णित है।

इस समय यम नचिकेता के प्रश्न का—मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या दशा होती है—उत्तर देते है। "सदा चैतन्यवान आत्मा

कभी नहीं मरती, न कभी जन्म लेती है, यह किसी से भी उत्पन्न नहीं होती है, यह नित्य है, अज है, शाश्वत है और पुराण है। देह के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होती। मारनेवाला यदि सोच मैं किसी को मार सकता हूँ, अथवा मरनेवाला व्यक्ति यदि सोचे—मै मरा हूँ, तो दोनों को ही सत्य से अनभिज्ञ समझना चाहिये; क्योंकि आत्मा न किसीको मारती है, न स्वय मृत होती है।" यह तो बड़ी भयानक बात हुई। प्रथम श्लोक में आत्मा का विशेषण जो 'सदा चैतन्यवान' शब्द है उसी के ऊपर विशेष लक्ष्य करो। क्रमशः देखोगे, वेदान्त का प्रकृत मत यही है कि समुदय ज्ञान, समुदय पवित्रता, पहले से ही आत्मा में अवस्थित है, उसका कही पर अधिक प्रकाश होता है और कहीं पर कम। इतना हां भेद है। मनुष्य के साथ मनुष्य का अथवा इस ब्रह्माण्ड के किसी भी पदार्थ का पार्थक्य प्रकारगत नहीं है, परिमाणगत है। प्रत्येक के भीतर अवस्थित सत्य—वही एक मात्र अनन्त नित्यानन्दमय, नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण ब्रह्म है। वही यह आत्मा है—वह पुण्यशील, पापी, सुखी, दुःखी, सुन्दर, कुरूप, मनुष्य, पशु, सब मे समान है। वही ज्योतिर्मय है। उसके प्रकाश के तारतम्य से ही नाना प्रकार का प्रभेद है। किसीके भीतर वह अधिक प्रकाशित है और किसी के भीतर कम, किन्तु उस आत्मा के समीप इस भेद का कोई अर्थ नही है। एक व्यक्ति की पोशाक के भीतर से उसके शरीर का अधिकांश देखा जाता है, पर दूसरे व्यक्ति की पोशाक के भीतर से उसके शरीर का अल्पांश देखा जाता है—पर इससे शरीर मे किसी प्रकार का भेद नहीं होता। केवल शरीर के अधिकांश या अल्पांश को आवृत करनें वाली पोशाक का ही भेद देखा जाता है। आवरण अर्थात् देह और मन के तारतम्यानुसार ही

आत्मा की शक्ति और पवित्रता प्रकाशित होती है। अतएव यहाँ पर यह बात समझ लेना ठीक है कि वेदान्तदर्शन मे अच्छी और बुरी नामक दो पृथक् वस्तुएँ नहीं है। वही एक पदार्थ अच्छा और बुरा दोनों होता है और उनके बीच विभिन्नता केवल परिमाणगत है, एवं वास्तविक कार्यक्षेत्र मे भी हम यही देखते हैं। आज जिस वस्तु को हम सुखकर कहते है, कल कुछ अच्छी अवस्था प्राप्त होने पर उसी को दुखकर अवस्था कहकर उससे घृणा करेंगे। अतएव वास्तविक वस्तु के विकास की विभिन्न मात्रा के कारण ही भेद उपलब्ध होता है, उस पदार्थ मे तो वास्तविक कोई भेद नही है। वस्तुतः अच्छा बुरा नामक कोई पदार्थ ही नही है। जो अग्नि हमे सर्दी से बचाती है, वही किसी बच्चे को भस्म भी कर सकती है, तो यह क्या अग्नि का दोष हुआ? अतएव यदि आत्मा शुद्धस्वरूप और पवित्र हो, तो जो व्यक्ति असत्कार्य्य करने जाता है, वह अपने स्वरूप के विपरीत आचरण करता है—वह अपने स्वरूप को नही जानता। एक खूनी के भीतर भी शुद्ध स्वरूप आत्मा रहती है। वह भ्रान्ति से उसको ढाँके रहता है, उसकी ज्योति को प्रकाशित नहीं होने देता। और जो व्यक्ति सोचता है कि वह मारा गया, उसकी भी आत्मा मरती नहीं। आत्मा नित्य है—कभी भी उसका ध्वंस नहीं हो पाता। "अणु से भी अणु, वृहत् से भी वृहत्, वही सभी के प्रभु प्रत्येक मनुष्य-हृदय के गुह्यप्रदेश मे वास करते हैं। निष्पाप व्यक्ति विधाता की कृपा से उसे देखकर सभी प्रकार के शोक से रहित हो जाता है। जो देहशून्य होकर देह मे रहते है, जो देशविहीन होकर भी देश मे रहनेवालों के समान हैं, उस अनन्त और सर्वव्यापी आत्मा को इस प्रकार जानकर ज्ञानी व्यक्ति का दुःख सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाता है। इस आत्मा

को वक्तृताशक्ति, तीक्ष्ण मेधा अथवा वेदाध्ययन के द्वारा नहीं पाया जा सकता।

यह 'वेदों के द्वारा लाभ नहीं की जा सकती' ऐसा कहना ऋषियों के लिये परम साहस का कार्य था। पहले ही कहा है, ऋषि चिन्ता-जगत् मे बडे साहसी थे, वे किसी के द्वारा भी रोके जानेवाले नही थे। हिन्दू लोग वेद को जिस सम्मान की दृष्टि से देखते है, उस भाव से ईसाई लोग बाइबिल को कभी नहीं देखते। ईसाइयों की ईश्वर-वाणी के विषय मे ऐसी धारणा है कि किसी मनुष्य ने ईश्वरानुप्राणित होकर उसे लिखा है, किन्तु हिन्दुओ की धारणा है—जगत् मे जो सभी विभिन्न पदार्थ हैं, उसका कारण यह है कि वेद मे इन इन पदार्थों का नाम उल्लिखित है। उनका विश्वास है कि वेद के द्वारा ही जगत् की सृष्टि हुई है। ज्ञान नाम से जो कुछ समझा जाता है, वह वेद मे ही है। जिस प्रकार आत्मा अनादि अनन्त है उसी प्रकार वेद का प्रत्येक शब्द भी पवित्र एवं अनंत है। सृष्टिकर्ता के समस्त मन का भाव ही मानो इस ग्रन्थ मे प्रकाशित है। वे इस भाव से वेद को देखते है। यह कार्य नीतिसंगत क्यों है?—क्योकि इसे वेद कहता है। यह कार्य अन्याय क्यो है?—क्योकि इसे वेद कहता है। वेद के प्रति प्राचीनो की ऐसी श्रद्धा रहने पर भी इन ऋषियो का सत्यानुसन्धान मे कितना साहस है, देखो। उन्होने यह कहा कि 'नही, बारंबार वेदपाठ करने पर भी सत्यलाभ की कोई सम्भावना नहीं है'। अतएव वही आत्मा जिसके प्रति प्रसन्न होती है, उसीको वह अपना स्वरूप दिखलाती है। किन्तु इससे एक और आशका उठ सकती है कि इसमे भी उस पर पक्षपात का दोष हुआ, इसलिये निम्नलिखित वाक्य भी इसके साथ कहे गये है। 'जो असत्कार्य करनेवाले है और जिनका मन शान्त

नही है, वे कभी भी इसे नहीं पा सकते। केवल जिनका हृदय पवित्र है, जिनका कार्य पवित्र है, जिनकी इन्द्रियाँ संयत है, उन्ही के निकट यह आत्मा प्रकाशित होती है।'

आत्मा के सम्बन्ध में एक सुन्दर उपमा दी गयी है। आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम और इन्द्रियो को अश्व की उपमा दी गई है। जिस रथ के घोडे अच्छी तरह संयत हैं, जिस रथ की लगाम खूब मज़बूत है और सारथी के द्वारा दृढ़रूप से पकड़ा हुआ है, वही रथ विष्णु के उस परम पद को पहुँच सकता है, किन्तु जिस रथ के इन्द्रिय रूपी घोड़े दृढ़भाव से सयत नही हैं तथा मनरूपी लगाम दृढ़भाव से संयत नही रहती वही रथ अन्त मे विनाश की दशा को प्राप्त होता है। सभी प्राणियो के मध्य मे अवस्थित आत्मा चक्षु अथवा किसी दूसरी इन्द्रिय के समक्ष प्रकाशित नहीं होती, किन्तु जिनका मन पवित्र हुआ है, वे ही उसे देख पाते है। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से अतीत है, जो अव्यय है, जिसका आदि अन्त नहीं है, जो प्रकृति के अतीत है, अपरिणामी है, उसे वे प्राप्त करते हैं, वे मृत्यु-मुख से मुक्त होते है। किन्तु उसे पाना बहुत कठिन है, यह मार्ग तेज क्षुरधारा के समान अत्यंत दुर्गम है। मार्ग बहुत लम्बा एव विपद्व्याप्त है, किन्तु निराश मत होना, दृढ़तापूर्वक चले जाओ, 'उठो, जागो, जिसकी कोई सीमा नहीं है, उसी चरमलक्ष्य पर पहुँचो, वहाँ तक पहुँचे बिना निवृत्त मत होओ।'

हम देखते है, समस्त उपनिषद के भीतर प्रधान बात यह अपरोक्षानुभूति ही है। इसके सम्बन्ध मे मन मे समय समय पर अनेक प्रकार के प्रश्न उठेंगे—विशेषत, आधुनिक लोगो के लिए इसकी उपकारिता के

सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होंगे—तथा और भी अनेक प्रकार के संदेह उठेंगे, परन्तु हम देखेंगे कि सभी मे हम अपने पूर्व सस्कारों के द्वारा सचालित होते है। हमारे मन पर इन पूर्व सस्कारों का अतिशय प्रभाव है। जो बाल्यकाल से केवल सगुण ईश्वर की और मन के व्यक्तिगत तत्व (The personality of the mind) की बात सुनते है, उनके लिये पूर्वोक्त बाते अवश्य ही अति कर्कश मालूम पडेगी, किन्तु यदि हम उन्हे सुने और यदि दीर्घकाल तक उनकी चिन्ता करे, तो वे बाते हमारे प्राणों मे मिद जायँगी, हम फिर इस तरह की बाते सुनकर भयभीत न होंगे। हॉ, दर्शन की उपकारिता अर्थात् कार्यकारिता के सम्बन्ध मे मुख्य प्रश्न अवश्य है। उसका केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है। यदि प्रयोजनवादियों के मत मे सुख का अन्वेषण करना मनुष्य के लिये कर्तव्य है, तो आध्यात्मिक चिन्ता मे जिन्हें सुख मिलता है, वे क्यो न आध्यात्मिक चिन्ता मे सुख का अन्वेषण करे? अनेक लोग विषयभोग मे सुख पाने के कारण विषयसुख का अन्वेषण करते है, किन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति हो सकते है जो उच्चतर भोग का अन्वेषण करते है। कुत्ता केवल खाने पीने से सुखी होता है। किन्तु वैज्ञानिक विषयसुख को तिलाञ्जलि दे, केवल कुछ ही तारों की स्थिति जानने के लिये ही शायद किसी पर्वत के शिखर पर वास करते है। वे जिस अपूर्व सुख का आस्वाद पाते है, कुत्ता उसे समझने मे अक्षम है। कुत्ता उन्हे देखकर हॅस सकता है और उन्हे पागल कह सकता है। हो सकता है बिचारे वैज्ञानिक को विवाह भी करने की सुविधा न मिली हो। हो सकता है, वे केवल रोटी के कुछ टुकड़े और थोडेसे पानी के आधार पर ही पर्वत के शिखर पर रहते है। किन्तु वैज्ञानिक कहेगे, "भाई कुत्ते! तुम्हारा सुख केवल इन्द्रियों में आबद्ध है; तुम

इस सुख का भोग कर रहे हो। तुम उसे छोड़कर उच्चतर कोई भी सुख नही जानते, किन्तु हमारे लिये यही सबसे बढ़कर सुखकर है। और यदि तुम्हे अपने मनोनुकूल सुखान्वेषण का अधिकार है, तो हमें भी है।" हमारा यही भ्रम है कि हम समस्त जगत् को अपने ही भाव से चलाना चाहते है। हम अपने ही मन को समस्त जगत् का मापदण्ड बनाना चाहते हैं। तुम्हारी दृष्टि में इन्द्रियविषयो मे ही सर्वापेक्षा अधिक सुख है। किन्तु हमे भी उन्हीं से सुख मिलेगा, इसका कोई अर्थ नही है। जिस समय तुम इस मत को लेकर जिद करते हो, तभी हमारा तुमसे मतभेद होता है। सांसारिक हितवादी (Worldly Utilitarian) के साथ धर्मवादी का यही प्रभेद है। सांसारिक हितवादी कहते हैं—"देखो, हम कितने सुखी है!"

"हम तुम्हारे धर्म-तत्त्वो को लेकर माथापच्ची नहीं करते। वे तो अनुसधानातीत है। उन सभो का अन्वेषण न कर हम बड़े सुख मे हैं।" बहुत अच्छा, अच्छी बात है। हे हितवादियो! तुम लोग जिससे सुखी होते हो, वह ठीक है। किन्तु यह संसार बड़ा भयानक है। यदि कोई व्यक्ति अपने भाई का कोई अनिष्ट करके सुख प्राप्त कर सके, तो ईश्वर उसकी उन्नति करता है। किन्तु जब वही व्यक्ति आकर हमे अपने मत के अनुसार कार्य करने का परामर्श देता है और कहता है, यदि तुम इस तरह नहीं करते हो तो तुम मूर्ख हो तो उससे हम कहते है, तुम भ्रान्त हो, क्योंकि तुम्हारे लिये जो सुखकर है, उसे यदि हम करे, तो हम प्राण रखने मे भी समर्थ न हो सकेंगे। यदि हमे सोने के कुछ टुकड़ों के लिये दौडना पडे, तो हमारा जीना ही निरर्थक होगा। धार्मिक व्यक्ति हितवादी को यही

उत्तर देगा। और वास्तविक बात भी ऐसी ही है। जिसने निम्नतर भोगवासनाओं का अन्त कर लिया है, वही धर्माचरण कर सकता है। हम लोगो को भोग भोगकर आघातो द्वारा सीखना होगा, जहाँ तक हमारी दौड है, वहाँ तक दौड लेना होगा। जब इस संसार मे हमारी दौड निवृत्त होती है, तभी हम लोगों की दृष्टि के समक्ष परलोक प्रतिभात होता है।

इस विषय मे और एक विशेष समस्या हमारे मन मे उत्पन्न हुई। सुनने मे बात तो बडी कर्कश है, परन्तु है वह वास्तविक सत्य कथा। यह विषय-भोगवासना किसी किसी समय और एक रूप धारण करके उदित होती है—उसमे बडी विपदाशंका है, फिर भी वह आपाततः रमणीय है। यह बात तुम सर्वदा सुनते हो। अत्यन्त प्राचीन काल मे भी वह धारणा थी—वह प्रत्येक धर्म-विश्वास के अन्तर्गत है और वह यह है कि एक ऐसा समय आयेगा जब संसार का समस्त दुःख समाप्त हो जायगा, केवल सुखांश ही अवशिष्ट रह जायगा और पृथ्वी स्वर्गराज्य मे परिणत हो जायगी। पर मेरा इस बात पर विश्वास नही है। हमारी पृथ्वी जैसी है, वैसी ही रहेगी। अवश्य ही यह बात कहना बहुत भयानक है, किन्तु यह न कहकर और कोई मार्ग देखता ही नहीं हूँ। यह बात रोग के समान है। मस्तक से उतारो तो पैर मे जायगा। एक स्थान से हटा देने से दूसरे स्थान मे चला जायगा। कुछ भी क्यों न करो, वह किसी भी तरह पूर्णरूपेण दूर नहीं हो सकता। दुःख भी इसी तरह है। अति प्राचीन काल मे लोग जगल मे रहा करते थे और एक दूसरे को मारकर खा लेते थे। वर्तमान काल मे मनुष्य एक दूसरे मनुष्य का मांस नही

खाता, परन्तु एक दूसरे को ठगा खूब करता है। मनुष्य प्रतारणा करके नगर का नगर, देश का देश ध्वस कर डालता है। निश्चय ही यह किसी बहुत बड़ी उन्नति का परिचायक नही है। और तुम लोग जिसे उन्नति कहते हो, उसे भी मैं बडा नही समझता—वह तो वासना की लगातार वृद्धि मात्र है। यदि मुझे कोई विषय अति स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, तो वह यही है कि वासना से केवल दुःख का ही आगमन होता है—वह तो याचक की अवस्था मात्र है। सर्वदा ही कुछ न कुछ के लिये याचना करना—किसी दूकान आदि मे जाकर किसी न किसी वस्तु के पाने की इच्छा रहती ही है। बस चाहना, चाहना, चाहना! सारा जीवन ही केवल तृष्णाग्रस्त याचक की अवस्था है—वासना की दुर्निवार तृष्णा है। यदि वासना पूर्ण करने की शक्ति समयुक्तान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) के नियमानुसार बटे, तो वासना की शक्ति समगुणितान्तर श्रेणी (Geometrical progression) के नियमानुसार बढती है। अनन्त जगत् के समस्त सुखदुःख की समष्टि सर्वदा ही समान है। समुद्र मे यदि एक तरग कही से उठती है, तो निश्चय कही पर एक गर्त उत्पन्न होगी। यदि किसी मनुष्य को सुख प्राप्त हुआ है, तो निश्चय ही किसी दूसरे मनुष्य या पशु को दुःख हुआ है। मनुष्य की सख्या बढ रही है, पशु की संख्या घट रही है। हम उनका विनाश करके उनकी भूमि छीन रहे है, हम उनका समस्त खाद्यद्रव्य छीन रहे है। तब हम किस तरह कहे कि सुख लगातार बढ रहा है? प्रबल जाति दुर्बल जाति का ग्रास कर रही है, किन्तु तुम लोग क्या समझते हो कि प्रबल जाति कुछ सुखी होगी? नहीं, वे एक दूसरे का सहार ही करेगी, मेरी समझ मे नहीं आता कि सुख का युग किस तरह आयेगा। यह तो

प्रत्यक्ष करने का विषय है। आनुमानिक विचार के द्वारा भी मै देखता हूँ कि यह कभी सम्भव नहीं है।

पूर्णता सर्वदा ही अनन्त है। हम वस्तुतः वही अनन्त स्वरूप है, अपने उसी अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा मात्र हम कर रहे है। तुम और मै, सभी उसी अपने अपने अनन्त स्वरूप को अभिव्यक्त करने की चेष्टा मात्र करते है। यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु कुछ जर्मन दार्शनिको ने इससे एक अत्यत अद्‌भुत दार्शनिक सिद्धान्त निकालने की चेष्टा की है—वह यही है कि इस तरह अनन्त क्रमशः अधिकाधिक व्यक्त होता रहेगा, जब तक कि हम पूर्ण व्यक्त नही होते है, जब तक कि हम सब पूर्ण पुरुष नहीं हो सकते है। पूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थ क्या है? पूर्णता का अर्थ अनन्त है, और अभिव्यक्ति का अर्थ है सीमा—अतएव इसका यह तात्पर्य हुआ कि हम असीम भाव से ससीम होंगे, परन्तु यह तो असंबद्ध प्रलाप मात्र है। बालकगण इस मत से संतुष्ट हो सकते है; बच्चों को सन्तुष्ट करने के लिये उन लोगों को शौक के तौर पर धर्म देने के लिये यह अवश्य उपयोगी है, किन्तु इससे उन लोगों को मिथ्या के विष से जर्जरित करना होता है—और धर्म के लिये तो यह बडा ही हानिकारक है। हमे यह समझ लेना उचित है कि जगत् और मानव ईश्वर का अवनत भाव मात्र है; तुम्हारी बाइबिल मे भी यह है कि आदम पहले पूर्ण मानव थे, बाद मे भ्रष्ट हुए। इस तरह का कोई धर्म ही नहीं है जो यह न कहता हो कि मनुष्य पहले की अवस्था से हीन अवस्था मे गिर गया है। हम हीन होकर पशु हो गये है। इस समय हम फिर से उन्नति के मार्ग पर चल रहे है, और इस बन्धन से

बाहर होने की चेष्टा कर रहे है, किन्तु हम अनन्त को कभी भी यहाँ अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही हो सकते। हम प्राणपण से चेष्टा कर सकते है, परन्तु देखेगे कि यह असंभव है। अन्त मे एक समय ऐसा आयेगा जब हम देखेगे कि जब तक हम इन्द्रियों से आवद्ध है, तब तक पूर्णता का लाभ असंभव है। तब हम जिस ओर अग्रसर हो रहे थे, उसी ओर से पीछे लौटना आरम्भ करेंगे।

इसी लौट आने का नाम त्याग है। तब हम जिस जाल के भीतर पड़े थे, उसमे से हमे निकलना होगा—तभी नीति और दया धर्म आरम्भ होगा। समस्त नैतिक अनुशासन का मूलमत्र क्या है? 'नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि (तूही, तूही,)'। हमारे पीछे जो अनन्त विद्यमान है, उन्होंने अपने को वहिर्जगत् में व्यक्त करने के लिये इस 'अहं' का आकार धारण किया है। उन्हीं से इस क्षुद्र 'मैं' और 'तुम' की उत्पत्ति हुई है। अभिव्यक्ति की चेष्टा मे इसी फल की उत्पत्ति हुई है, —अब इस 'मैं' को फिर पीछे हटकर अपने अनन्त स्वरूप मे मिल जाना होगा। उन्हे मालूम होगा कि वे इतने दिन तक व्यर्थ की चेष्टा कर रहे थे। उन्होने अपने को भँवर मे डाला है—उन्हे इस भँवर से बाहर निकलना होगा। प्रत्येक दिन यही हमें प्रत्यक्ष होरहा है। जितने बार तुम कहते हो 'नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि' उतने ही बार तुम लौटने की चेष्टा करते हो, और जितने बार तुम अनन्त को यहाँ अभिव्यक्त करने मे सचेष्ट होते हो, उतने ही बार तुम्हे कहना होगा 'अह, अहं, न त्वम्'। इसीसे संसार मे प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और अनिष्ट की उत्पत्ति होती है, किन्तु अन्त मे त्याग, अनन्त त्याग का आरम्भ होगा ही। 'मैं' मर जायगा। अपने जीवन के लिये उस समय कौन यत्न करेगा? यहाँ रहकर इस जीवन का उपभोग करने

की व्यर्थ वासना और फिर इसके आगे स्वर्ग जाकर उसी तरह रहने की वासना—अर्थात् सर्वदा इन्द्रिय और इन्द्रियसुख में लिप्त रहने की वासना ही मृत्यु को लाती है।

यदि हम पशुओं की उन्नत अवस्था मात्र है, तो जिस विचार से यह सिद्धान्त लब्ध हुआ उसी विचार से यह सिद्धान्त भी हो सकता है कि पशुगण मनुष्य की अवनत अवस्था मात्र है। तुमने यह कैसे समझा कि वैसा नहीं है? तुम जानते हो—क्रमविकासवाद का प्रमाण केवल यही है कि निम्नतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक सभी शरीर परस्पर-सदृश हैं, किन्तु उससे तुमने किस प्रकार यह सिद्धान्त निकाला कि निम्नतम प्राणी से क्रमशः उच्चतम प्राणी जन्मा है, न कि यह कि उच्चतम से क्रमशः निम्नतम प्राणी उत्पन्न हुआ है? दोनों ही ओर समान युक्ति है—और यदि इस मतवाद मे वास्तविक कुछ सत्य है, तो हमारा यह विश्वास है कि एकबार नीचे से ऊपर, फिर ऊपर से नीचे गति होती है—अर्थात् लगातार इस देहश्रेणी का आवर्तन हो रहा है। क्रमसकोचवाद स्वीकार न करने पर क्रमविकासवाद किस तरह सत्य हो सकता है? जो कुछ भी हो, मै जो कह रहा था कि मनुष्य की लगातार अनन्त उन्नति नही हो सकती यह इससे अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है।

'अनन्त' जगत् मे अवश्य अभिव्यक्त हो सकता है, इसे यदि मुझे कोई समझा सके तो मै उसे समझने को प्रस्तुत हूँ, किन्तु हम लगातार सरल रेखा मे उन्नति करते जा रहे है, इस बात पर मेरा बिलकुल विश्वास नहीं है। यह तो एक असंबद्ध प्रलाप मात्र है। सरल रेखा मे किसी प्रकार की गति हो ही नहीं सकती। यदि तुम अपने सामने ही

सामने एक पत्थर फेंको, तो अनन्त काल के वाद एक समय ऐसा आयेगा, जव वह घूमकर गोलाकार मे तुम्हारे निकट फिर आजायेगा। तुमलोगो ने क्या गणित के इस स्वत.सिद्ध सिद्धान्त को नही पढ़ा है कि सरल रेखा अनन्त रूप मे वढ़ाने पर वर्तुलाकार धारण करती है ? अवश्य ही यह ऐसा ही होगा, परन्तु संभव है, मार्ग पर अग्रसर होते होते कुछ इधर उधर होजाय। इसी कारण मै सर्वदा ही प्राचीन धर्मों का मत लेता हूँ—क्या ईसा, क्या वुद्ध, क्या वेदान्त, क्या बाइबिल, सभी कहते है—इस अपूर्ण जगत् को छोड़कर ही समय पर हम पूर्णता प्राप्त करेगे। यह जगत् कुछ भी नही है—अधिक से अधिक उस सत्य की एक भयानक विसदृश अनुकृति अर्थात् छाया मात्र है। सभी अज्ञानी मनुष्य इन इन्द्रियसुखो का उपभोग करने के लिये दौड़ते है।

इन्द्रियो मे आसक्त होना अत्यन्त सहज है। और भी सहज यह है कि हम अपने प्राचीन अभ्यास के वशीभूत होकर केवल आहार-पान मे मत्त रहे। किन्तु हमारे आधुनिक दार्शनिक इन सभी सुखकर भावो को लेकर उनके ऊपर धर्म का छाप देने की चेष्टा करते है। किन्तु यह मत सत्य नही है। इन्द्रियो की मृत्यु अटल है। हमे मृत्यु से अतीत होना होगा। मृत्यु कभी भी सत्य नही है। त्याग ही हमे सत्य मे पहुँचायेगा। नीति का अर्थ ही त्याग है। हमारे प्रकृत जीवन का प्रत्येक अंश ही त्याग है। हम जीवन के उन्ही क्षणो मे वास्तविक साधुता से युक्त होते है और प्रकृत जीवन का संभोग करते है, जव हम 'मै' की चिन्ता से विरत होते है। 'मै' का जव नाश होता है—हमारे अन्तर के 'प्राचीन मनुष्य' ('Old man') की मृत्यु होती है, उसी समय हम सत्य मे पहुँचते है। और वेदान्त कहता है—वह

सत्य ही ईश्वर है, वही हमारा प्रकृत स्वरूप है—वह सर्वदा ही तुम्हारे साथ रहता है और केवल यही नहीं, तुममें ही रहता है। उसी में सर्वदा वास करो। यद्यपि यह बहुत कठिन प्रतीत होता है, तथापि क्रमशः यह सहज हो जायगा। तब तुम देखोगे, उसमें रहना ही एकमात्र आनन्दपूर्ण अवस्था है, अन्य सभी अवस्थाये मृत्यु है। आत्म-भाव मे पूर्ण होना ही जीवन है, और सभी भाव मृत्यु है। हमारे वर्तमान समस्त जीवन को ही केवल शिक्षा के लिये विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। प्रकृत जीवन लाभ करने के लिए हमे इसके बाहर जाना होगा।

१३. आत्मा का मुक्त स्वभाव

हम पहले जिस कठोपनिषद की आलोचना करते थे, वह छान्दोग्योपनिषद के, जिसकी हम आलोचना करेंगे, वहुत समय वाद रचा गया था। कठोपनिषद की भाषा अपेक्षाकृत आधुनिक है, उसकी चिन्तनशली भी सबसे अधिक प्रणालीवद्ध है। प्राचीनतर उपनिषदो की भाषा कुछ अन्य प्रकार की थी। वह अति प्राचीन एवं वहुत कुछ वेद के संहिता-भाग की तरह थी। फिर उंनमे अनेक बार अनेक अनावश्यक विषयो में से घूम फिर कर तव कही उनका सार मत प्राप्त होता है। इस प्राचीन उपनिषद में कर्मकाण्डात्मक वेदांश का काफी प्रभाव है। इसीलिए इसका आधे से अधिक भाग अव भी कर्मकाण्डात्मक है। किन्तु अति प्राचीन उपनिषदो के अध्ययन से एक महान लाभ होता है। वह लाभ यह है कि उनके अध्ययन से आध्यात्मिक भावो का ऐतिहासिक विकास जाना जा सकता है। अपेक्षाकृत आधुनिक उपनिषदो मे ये आध्यात्मिक तत्व सव एकत्र संग्रहीत एवं सज्जित पाये जाते है। उदाहरण रूप भगवद्गीता को ही ले लीजिये। श्रीमद्भगवद्गीता को अन्तिम उपनिषद कहा जासकता है, क्योकि उसमे कर्मकाण्ड का लेशमात्र भी नही है। गीता का प्रत्येक श्लोक किसी न किसी उपनिषद से संग्रहीत है, मानो अनेक पुष्पो के संचयन से एक सुन्दर गुच्छ निर्मित हुआ हो, किन्तु उनमे इन सव तत्वो का क्रम-विकास देखने मे नही आता। अनेक लोगो के मतानुसार इन आध्यात्मिक तत्वो के क्रम-विकास को जानने की सुविधा ही वेद के अध्य-

यन की एक विशेष उपकारिता है। वास्तव मे यह सत्य भी है, क्योंकि वेद को लोग इतनी पवित्रता की दृष्टि से देखते है कि संसार के अन्यान्य धर्मशास्त्रो मे जिस तरह नाना प्रकार की मिलावट हुई है, वेद मे वैसी नहीं होने पाई। वेद मे अति उच्च विचार और निम्नतम विचारो का भी समावेश है। सार, असार, अति उन्नत विचार, और साथ ही सामान्य छोटी-छोटी बाते भी उसमे सन्निविष्ट है। किसीने भी उसमे परिवर्तन या परिवर्धन करने का साहस नहीं किया। हॉ, टीकाकारो ने अवश्य ही व्याख्या के बल से अति प्राचीन विषयो से अद्भुत-अद्भुत नये भाव निकालना आरम्भ किया, अनेक साधारण वर्णनो के भीतर वे आध्यात्मिक तत्व देखने लगे, किन्तु मूल जैसे का तैसा ही रहा—इसी मूल मे ऐतिहासिक गवेषणा के अनेक विषय हैं। हम जानते है कि मनुष्य की चिन्तन-शक्ति जितनी ही उन्नत होती है उतना ही वे धर्म के पूर्व भावो को परिवर्तित कर उनमे नवीन नवीन ऊँचे भावो को मिलाते है। यहॉ एक, वहॉ एक—इस प्रकार नई नई बाते जोडी जाती है, कहीं कहीं एक आध बात निकाल भी दी जाती है। टीकाकार की ही तो कला ठहरी! सम्भवत. वैदिक साहित्य में ऐसा नहीं किया गया। और यदि हुआ हो तो प्रथमतः उसका पता ही नहीं चलता। हमे इससे लाभ यह है कि हम विचार के मूल उत्पत्तिस्थान में पहुँच सकते है—देख सकते है कि किस प्रकार क्रमशः उच्च से उच्चतर विचारो का, किस प्रकार से स्थूल आधिभौतिक धारणाओ से लेकर सूक्ष्मतर आध्यात्मिक धारणाओ का विकास हो रहा है और अन्त में किस प्रकार वेदान्त मे उन सभो की चरम परिणति हुई है। वैदिक साहित्य मे अनेक प्राचीन आचार-व्यवहारो का भी आभास पाया जाता है। पर उपनिषद् में उन

सभो का वर्णन अधिक नही है। वह एक ऐसी भाषा मे लिखा गया है जो अत्यन्त सक्षिप्त है और सरलता से याद रखी जा सकती है।

प्रतीत ऐसा होता है कि इस ग्रन्थ के लेखक मानो केवल कई घटनाओ को स्मरण रखने के उपाय लिख रहे है। मानो उनकी ऐसी धारणा है कि ये सब बाते सभी जानते है। इससे असुविधा यह होती है कि हम उपनिषद मे लिखी कथाओ के वास्तविक तात्पर्य को ग्रहण नही कर सकते। इसका कारण यह है—यह सब जिन लोगो के समय मे लिखा गया था वे लोग उन घटनाओ को जानते थे, किन्तु आज उनकी किम्वदन्ती भी वर्तमान नही है,—और जो एकाध है भी, वह भी अतिरजित होगई है। उनकी ऐसी नयी व्याख्या होगई है कि जब हम पुराणो मे उनके विवरण पढ़ते है तो देखते है कि वे उच्छ्वासात्मक काव्य बन गये है।

पाश्चात्य देशो मे जैसे हम पाश्चात्य जाति की राजनीतिक उन्नति के विषय मे एक विशेष भाव देख पाते है कि वे किसी प्रकार अनियन्त्रित शासन सहन नही कर सकते, वे किसी प्रकार के बन्धन को—जैसे कोई उनके ऊपर शासन करे—सहन नही कर सकते, वे जैसे क्रमशः उच्च से उच्चतर प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली की उच्च उच्चतर धारणा तथा बाह्य स्वाधीनता की उच्च से उच्चतर धारणा प्राप्त कर रहे हैं ठीक वैसी ही घटना दर्शन मे घटती है; किन्तु भेद यही है कि यह आध्यात्मिक जीवन की स्वाधीनता है। 'अनेक-देववाद' से क्रमश लोग 'एकेश्वरवाद' मे पहुँचते है—उपनिषद मे फिर मानो इसी एकेश्वरवाद के विरुद्ध युद्धघोषणा हुई है। जगत

के अनेक शासनकर्ता अपने भाग्य को नियत्रित कर रहे है केवल यही धारणा उन्हे असह्य होती हो सो नहीं, बल्कि एकजन उनके अदृष्ट का विधाता होगा—यह धारणा भी उन्हे सह्य न हो सकी। उपनिषद् की आलोचना करने पर यही सबसे पहले हमारे सामने आता है। यही धारणा धीरे धीरे बढ़कर अन्त मे उसकी चरम परिणति हुई प्राय: सभी उपनिषदो मे अन्त मे हम यही परिणति पाते है। वह है—जगदीश्वर को सिहासनच्युत करना। ईश्वर की सगुण धारणा जाकर निर्गुण धारणा उपस्थित होती है। तब ईश्वर जगत् का शासनकर्ता एक व्यक्ति नही रह जाता, वह फिर एक अनन्तगुणसंपन्न मनुष्य-धर्मविशिष्ट नही रहता, प्रत्युत वह एक भाव मात्र, एक परम तत्व मात्र रूप मे ज्ञात होता है। हममे, जगत् के सभी प्राणियों मे, यहाँ तक कि समस्त जगत् मे वही तत्व ओत-प्रोत भाव से विराजमान है। और यह निश्चित है कि जब ईश्वर की सगुण धारणा निर्गुण धारणा मे पहुँच गई तब मनुष्य भी सगुण नहीं रह सकता। अतएव मनुष्य का सगुणत्व भी उड गया—मनुष्य भी एक तत्व-मात्र हुआ। सगुण व्यक्ति बाह्य प्रदेश मे विराजित है;—प्रकृत तत्व अन्तर्देश मे—पश्चात्। इसी तरह दोनो ओर से ही क्रमश: सगुणत्व चला जाता है और निर्गुणत्व का आविर्भाव होता रहता है।

सगुण ईश्वर की क्रमश: निर्गुण धारणा होती है एव सगुण मनुष्य का भी निर्गुण मनुष्यभाव आता रहता है—तब इन दो दिशाओ मे विभिन्न भाव से प्रवाहित इन दो धाराओ का विभिन्न वर्णन पाया जाता है। ये दो धाराये जिस क्रम से क्रमश: आगे होकर मिल जाती हैं, उसके वर्णन से उपनिषद् पूर्ण है एव प्रत्येक उपनिषद् की शेष

कथा है—तत्वमसि। केवल एक मात्र नित्य आनन्दमय पुरुष ही है, और वही परम तत्व इस जगत् रूप मे अनेक प्रकार से प्रकाशित होता है।

अब दार्शनिक आए। उपनिषद् का कार्य यहीं समाप्त हुआ—दार्शनिक लोगो ने उसके बाद अन्यान्य प्रश्नो पर विचार आरम्भ किया। उपनिषद मे मुख्य बात मिली—अब विस्तार पूर्वक व्याख्या करना, विचार करना दार्शनिक लोगो के लिए ही रहा।

यह स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त से अनेक प्रश्न उठते हैं। यदि यही स्वीकार किया जाय कि एक निर्गुणतत्व ही परिदृश्यमान नाना रूपो मे प्रकाशित होता है, तो यही जिज्ञासा होती है कि एक क्यो अनेक हुआ ? यह वही प्राचीन प्रश्न है जो मनुष्य की अमार्जित बुद्धि मे स्थूल भाव से उत्पन्न होता है। जगत् मे दु.ख अशुभ क्यो है ? उसी प्रश्न ने स्थूल भाव त्यागकर सूक्ष्म रूप धारण किया है। अब फिर हमारी बाह्य दृष्टि ऐन्द्रियिक दृष्टि से वह प्रश्न नहीं पूछा जारहा है, बल्कि भीतर से दार्शनिक दृष्टि से इस प्रश्न का विचार होरहा है। क्यो वह एक तत्व अनेक हुआ ? इसका उत्तर—सर्वोत्तम उत्तर भारतवर्ष मे मिला। इसका उत्तर—मायावाद—वास्तव मे वह अनेक नहीं हुआ, वास्तव मे उसके प्रकृत स्वरूप की लेशमात्र भी हानि नही हुई। यह अनेकत्व केवल आपातप्रतीयमान मात्र है, मनुष्य आपात दृष्टि से व्यक्ति रूप से प्रतीयमान होरहा है, किन्तु वास्तव मे वह निर्गुण है। ईश्वर भी आपातत: सगुण या व्यक्ति रूप से प्रतीयमान होरहा है, यद्यपि वास्तव मे वह इसी समस्त ब्रह्माण्ड मे अवस्थित निर्गुण पुरुष है।

यह उत्तर भी एकदम ही प्राप्त नहीं हुआ। उसके भी विभिन्न सोपान है। इस उत्तर के सम्बन्ध मे दार्शनिको मे मतभेद है। माया-वाद भारत के सभी दार्शनिको को मान्य नही है। सम्भवतः उनमे से अधिकांश दार्शनिकों ने इस मत को स्वीकार नही किया। कुछ तो द्वैतवादी है—उनका मत द्वैतवाद है—निश्चय ही उनका यह मत विशेष उन्नत तथा मार्जित नहीं है। वे इस प्रश्न की जिज्ञासा ही नही होने देगे–वे इस प्रश्न के उत्पन्न होते ही इसे दबा देते है। वे कहते है–"तुमको इस प्रश्न के पूछने का अधिकार नही है–क्यो इस तरह हुआ, इसकी व्याख्या पूछने का तुम्हे कुछ भी अधिकार नही। वह तो ईश्वर की इच्छा है—हमें शान्त भाव से उसे सहन करना होगा। जीवात्मा को कुछ भी स्वाधीनता नही है। सब कुछ पहले से ही निर्दिष्ट है—हम क्या करेगे, हमे क्या क्या अधिकार है, हम क्या–क्या सुख–दुःख भोगेगे, सभी कुछ पहले से ही निर्दिष्ट है। हमारा कर्तव्य है–धैर्य से उन सभो का भोग करते जाना। यदि हम ऐसा न करे तो और भी अधिक कष्ट पायेगे। किस तरह से हमने इसको जाना है?—क्योकि वेद ऐसा कहते है।" वे भी वेद के श्लोक उद्धृत करते है, उनके मत-सम्मत वेद का अर्थ भी है; वे इन सभों को प्रमाण कह कर सभी को उन्हे मानने के लिए कहते है और तदनुसार चलने का उपदेश देते है।

फिर अनेक ऐसे भी दार्शनिक है जो मायावाद स्वीकार नही करते, पर उनका मत मायावाद और द्वैतवाद के बीच का है। वे है परिणामवादी। वे कहते है, जीवात्मा की उन्नति तथा अवनति—विभिन्न परिणाम ही–जगत् की प्रकृत व्याख्या है। वे रूपक भाव से वर्णन करते है कि समस्त आत्मा एक बार सकोच को और फिर विकास को

प्राप्त होते हैं। समस्त जगत् ही जैसे भगवान का शरीर है। ईश्वर समस्त प्रकृति एव आत्माओ के आत्मा स्वरूप है।

सृष्टि का अर्थ है ईश्वर के स्वरूप का विकास–कुछ समय तक यह विकास जारी रहकर फिर संकुचित होने लगता है। प्रत्येक जीवात्मा के लिए इस सकोच का कारण है—असत् कर्म। मनुष्य के असत् कर्म करने से उसकी आत्मा की शक्ति क्रमशः सकुचित होने लगती है—जितने दिनो तक वह सत्कर्म आरभ नही करता। तब फिर उसका विकास होने लगता है। इन भारतीय विभिन्न मतो मे—एव मेरे विचार मे, जान मे या अनजान मे जगत् के सभी मतो मे—एक साधारण भाव दिखाई देता है. मै उसे "मनुष्य का देवत्व" या ईश्वरत्व कहना चाहता हूँ। जगत् मे ऐसा कोई मत नहीं है, प्रकृत धर्म नाम के उपयुक्त ऐसा कोई धर्म नहीं है जो किसी न किसी तरह पौराणिक या रूपक भाव से ही हो अथवा दर्शनो की परिमार्जित स्पष्ट भाषा मे हो, यह भाव प्रकाशित न करता हो कि जीवात्मा जो कुछ भी हो, अथवा ईश्वर के साथ उसका जो भी सम्बन्ध हो, वह स्वरूपतः शुद्ध स्वभाव एव पूर्ण है। पूर्णानन्द और ऐश्वर्य उसके प्रकृतिगत हैं; दु:ख या अनैश्वर्य उसकी प्रकृति नहीं है। यही दु ख किसी रूप मे उसमे आगया है। सभी अमार्जित मतो मे इस अशुभ के व्यक्तित्व (Personified Evil) की कल्पना कर शैतान या अहीमन को इन अशुभो का सृष्टिकर्ता कहकर अशुभो के अस्तित्व की व्याख्या की जा सकती है।

दूसरे मतो के अनुसार एक ही आधार मे ईश्वर और शैतान दोनों का भाव आरोपित किया जा सकता है, एव किसी प्रकार की

युक्ति दिए बिना ही वे कहते है कि वह चाहे जिसे सुखी या दुखी करता है। फिर कुछ अधिक चिन्ताशील व्यक्तिगण मायावाद आदि के द्वारा अशुभ की व्याख्या करने की चेष्टा कर सकते है। किन्तु एक विषय सभी मतो मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित है और वह है हमारा प्रस्तावित विषय—आत्मा का मुक्त स्वभाव। ये सभी दार्शनिक मत और प्रणालियाँ केवल मन के व्यायाम और बुद्धि की कसरत मात्र हैं। एक महान उज्ज्वल धारणा है—जो मुझे विशेष स्पष्ट प्रतीत होती है, एवं जो सभी देश तथा धर्म के कुसंस्कारो के बीच प्रकाश पानी है, और वह यही है कि मनुष्य देवस्वभाव है,—देवभाव ही हमारा स्वभाव है, हम ब्रह्मस्वरूप हैं।

वेदान्त कहता है, और जो अन्य कुछ है, वह उसका उपाधि-स्वरूप मात्र है। कुछ मानो उसके ऊपर आरोपित हुआ है, किन्तु उसके देवस्वभाव का किसी से भी विनाश नहीं होता। वह जैसा अतिशय साधुप्रकृति व्यक्ति मे है, वैसा ही एक बडे पतित व्यक्ति में भी वर्तमान है। इस देवस्वभाव को जगाना पडेगा, तभी उसका कार्य होगा। हमे उसका आह्वान करना होगा, तभी वह प्रकाशित होगा। पुराने लोग समझते थे, चकमक पत्थर में आग रहती है, उसी आग को बाहर निकालने के लिये केवल इस्पात का घर्षण आवश्यक है। आग सूखी लकडी के दो टुकड़ों मे वास करती है, घर्षण केवल उसे प्रकाशित करने के लिये आवश्यक है। अतएव यह अग्नि—यह स्वाभाविक मुक्तभाव और पवित्रता प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का गुण नही, क्योंकि गुण तो उपार्जित किया जा सकता है, अतएव वह फिर नष्ट भी हो सकता है। मुक्ति या मुक्त स्वभाव कहकर जो

समझा जाता है, आत्मा कहने से भी उसी का बोध होता है—इस प्रकार सत्ता या अस्तित्व एवं ज्ञान भी आत्मा का स्वरूप है—आत्मा के साथ अभिन्न है। यह सत् चित् आनन्द आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का जन्मजात अधिकार स्वरूप है, हम जो इन सभी अभिव्यक्तियों को देखते है, वे आत्मा के स्वरूप के विभिन्न प्रकार मात्र हैं—वह किसी समय अपने को मृदुभाव से और किसी समय उज्ज्वल भाव से प्रकाशित करती है। यहाँ तक कि मृत्यु अथवा विनाश भी उसी प्रकृत सत्ता का प्रकाश मात्र है। जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि, उन्नति-अवनति, सभी उस एक अखण्ड सत्ता के विभिन्न प्रकाशमात्र है। इसी प्रकार हमारा साधारण ज्ञान भी, वह चाहे विद्या अथवा अविद्या किसी भी रूप से प्रकाशित क्यो न हो, उसी चित् का, उसी ज्ञान स्वरूप का प्रकाश है; उसकी विभिन्नता प्रकारगत नही है, अपितु परिमाण-गत है। छोटे कीड़े जो तुम्हारे पैर के पास घूमते हैं, उनके ज्ञान में और स्वर्ग के श्रेष्टतम देवता के ज्ञान मे भिन्नता प्रकारगत नहीं है, किन्तु परिमाणगत है। इसी कारण वेदान्ती मनीषी निर्भय होकर कहते है कि हम अपने जीवन मे जो सब सुखोपभोग करते हैं, यहाँ तक कि अतिघृणित आनन्द भी - वे आत्मा के ही स्वरूपभूत, उसी एक ब्रह्मानन्द के प्रकाश है।

यही भाव वेदान्त का सर्वप्रधान भाव ज्ञात होता है, और जैसा मैंने पहले ही कहा है, मुझे मालूम होता है कि सभी धर्मों का यही मत है। मै इस प्रकार का कोई धर्म नहीं जानता, जिसके मूल मे यह मत नहीं है। सभी धर्मों के भीतर यह सार्वभौमिक भाव रहा है। उदाहरण के तौर पर बाइबिल की कथा ले लीजिए—उसमें

रूपक के ढंग से कथा वर्णित है,—आदि मानव आदम अत्यन्त पवित्र स्वभाव के थे, अन्त मे उनके असत्कार्यों से उनकी पवित्रता नष्ट हुई। इस रूपक से यह प्रमाणित होता है कि इस ग्रन्थ के लेखक विश्वास करते थे कि आदिम मानव का (अथवा वे उसका अन्य किसी भी भाव से वर्णन क्यो न करे) या प्रकृत मानव का स्वरूप आदि से ही पूर्ण था। हमें जो तरह तरह की दुर्बलताये अथवा अपवित्रता दिखाई देती है, वह सब उसके ऊपर आरोपित आवरण या उपाधि मात्र है, एवं उसी धर्म का परवर्ती इतिहास यह बतलाता है कि उसके अनुयायी केवल उसी पूर्व अवस्था को पुनः प्राप्त करने की सम्भावना मे ही नहीं, वरन् उसकी निश्चितता में भी विश्वास करते है। यही समस्त बाइबिल का—प्राचीन तथा नवीन टेस्टामेण्ट का—इतिहास है।

मुसलमानों के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। वे भी आदम तथा उसकी जन्मजात पवित्रता पर विश्वास करते है। और उनकी यह धारणा है कि हज़रत मुहम्मद के आगमन से उस लुप्त पवित्रता के पुनरुद्धार का उपाय प्राप्त हो चुका है।

बौद्धो के विषय मे भी यही है। वे भी निर्वाण नामक अवस्था-विशेष पर विश्वास रखते है। यह अवस्था द्वैत जगत् से अतीत अवस्था है। वेदान्ती लोग जिसे ब्रह्म कहते है, यह निर्वाण अवस्था भी ठीक वही है। और बौद्ध धर्म के सम्पूर्ण उपदेश का यही धर्म है कि उस विनष्ट निर्वाण अवस्था को फिरसे प्राप्त करना होगा।

इस तरह देखा जाता है कि सभी धर्मों में यही एक तत्व पाया जाता है कि जो तुम्हारा नहीं है उसे तुम कभी नहीं पा सकते। इस

विश्वब्रह्माण्ड मे तुम किसी के भी निकट ऋणी नही हो। तुम्हे अपना जन्मप्राप्त अधिकार ही प्राप्त करना है। एक प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य ने यही भाव अपने किसी ग्रन्थ के नाम में ही बड़े सुन्दर भाव से प्रकट किया है। ग्रन्थ का नाम है 'स्वराज्यसिद्धि' अर्थात् हमारा अपना राज्य, जो खो गया था, उसकी पुनःप्राप्ति। वही राज्य हमारा है, हमने उसे खो दिया है, फिर हमे उसे प्राप्त करना होगा। किन्तु मायावादी कहते है—यह राज्यनाश केवल हमारा भ्रम मात्र है, हमारे राज्य का नाश तो कभी हुआ ही नही—बस यही दोनों मे भेद है।

यद्यपि इस विषय में कि हमारा जो राज्य था, उसे हमने खो दिया ह, सभी धर्म-प्रणालियॉ एकमत है तथापि वे उसे फिर से पाने के उपाय के बारे मे विभिन्न उपदेश दिया करती है। कोई कहते है—कुछ विशिष्ट क्रियाकलाप, प्रतिमा आदि की पूजा-अर्चना करने से और स्वय कुछ विशेष नियमानुसार जीवन यापन करने से वह स्वराज्य मिल सकता है। कुछ और लोग कहते है—यदि तुम प्रकृति से अतीत पुरुष के सम्मुख अपने को नतकर रोते रोते उसके निकट क्षमा प्रार्थना करो, तो तुम पुनश्च उस राज्य को प्राप्त कर लोगे। दूसरे कोई कहते है—यदि तुम इस पुरुष से अन्तःकरणपूर्वक प्रेम कर सको, तो तुम फिरसे इस राज्य को प्राप्त कर सकोगे। उपनिषद मे ये सभी उपदेश पाये जाते है। क्रमशः हम तुम्हे जितना उपनिषद् समझायेगे, उतना ही तुम यह समझते जाओगे। किन्तु सर्वश्रेष्ठ अन्तिम उपदेश यह है कि तुम्हारे रोने का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे इन क्रियाकलापो की किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। क्या क्या करने से राज्य की पुनः प्राप्ति होगी, इस चिन्ता की तुम्हे कोई आवश्यकता

नही है, क्योकि तुम्हारा राज्य तो कभी नष्ट हुआ ही नहीं। जिसे तुमने कभी खोया ही नहीं, उसे पाने के लिये इस प्रकार की चेष्टा की आवश्यकता ही क्या ? तुम स्वभावतः मुक्त हो, तुम स्वभावतः शुद्ध-स्वभाव हो। यदि तुम अपने को मुक्त समझकर भावना कर सको, तो तुम इसी मुहूर्त मे मुक्त हो जाओगे, और यदि तुम अपने को बद्ध समझकर भावना करो, तो तुम बद्ध ही रहोगे। केवल इतना ही नही; इस बार अवश्य ही जो कुछ हम कहेंगे, उसे हम अत्यन्त साहस के साथ कहेगे—यह बात मैने इन वक्तृताओं के आरम्भ करने के पूर्व ही कही थी। तुम्हे यह सुनकर इस क्षण भय हो सकता है, किन्तु तुम जितना चिन्तन करोगे, एव प्राण प्राण मे अनुभव करोगे, उतना ही देखोगे कि मेरी बात सत्य है। कारण, कल्पना करो कि मुक्त भाव तुम्हारा स्वभावसिद्ध नहीं है; तब तुम किसी भी प्रकार मुक्त नहीं हो सकोगे। कल्पना करो कि तुम मुक्त थे, इस समय किसी कारण से उस मुक्त स्वभाव को खोकर बद्ध हुए हो तो ऐसा होने पर प्रमाणित होता है कि तुम पहले से ही मुक्त नहीं थे। यदि तुम मुक्त थे तो किसने तुम्हे बद्ध किया ? जो स्वतन्त्र है, वह कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता; और यदि हो सकता है तो प्रमाणित हुआ कि वह कभी भी स्वतन्त्र नही था—यह स्वातन्त्र्य-प्रतीति भ्रम मात्र थी।

अब तुम इन दोनों पक्षों मे कौन सा पक्ष ग्रहण करोगे ? दोनो पक्षों की युक्ति-परंपरा को स्पष्ट करने पर हमें निम्नलिखित बाते दिखाई देती है। यदि कहो कि आत्मा स्वभावतः शुद्धस्वरूप एवं मुक्त है, तो अवश्यमेव यह सिद्धान्त स्थिर करना होगा कि जगत् मे ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो उसे बाँध सके। किन्तु जगत् में यदि इस

प्रकार की कोई वस्तु हो, जिससे उसे बद्ध किया जा सके, तो अवश्य यह कहना होगा कि आत्मा मुक्तस्वभाव थी ही नही, अतएव तुमने उसे जो मुक्तस्वभाव कहा था वह तुम्हारा भ्रम मात्र है। अतएव तुम्हे यह सिद्धान्त अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि आत्मा स्वभाव से ही मुक्तस्वरूप है। इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकती। मुक्त-स्वभाव का अर्थ है—किसी बाह्य वस्तु के अधीन न होना—अर्थात् उसके अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु उसके ऊपर हेतु रूप मे कोई कार्य नही कर सकती।

आत्मा कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत है, और इसीसे आत्मा के सम्बन्ध मे हमारी उच्च उच्च धारणाये उत्पन्न होती है। यदि यह अस्वीकार किया जाय कि आत्मा स्वभावतः मुक्त है अर्थात् बाहर की कोई भी वस्तु उसके ऊपर कार्य नही कर सकती तो आत्मा के अमरत्व की कोई धारणा प्रस्थापित नहीं की जा सकती। क्योंकि, मृत्यु हमारे बहि.स्थित किसी वस्तु के द्वारा किया हुआ कार्य है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे शरीर के ऊपर बाहरी कोई दूसरा पदार्थ कार्य कर सकता है, मानलो मैने थोड़ा सा विष खाया, उससे मेरी मृत्यु हुई—इससे जाना जाता है कि हमारे शरीर के ऊपर विष नामक बाहरी कोई पदार्थ कार्य कर सकता है। यदि आत्मा के सम्बन्ध में यह सत्य हो, तो आत्मा भी बद्ध है। किन्तु यदि यह सत्य है कि आत्मा मुक्तस्वभाव है, तो यह भी स्वभावत. ज्ञात होता है कि बाहरी कोई भी पदार्थ उसके ऊपर कार्य नहीं कर सकता है और न कर ही सकेगा। ऐसा होने पर आत्मा कभी मर नही सकती, एवं आत्मा कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत भी होगी। आत्मा का मुक्त स्वभाव, उसका अमरत्व एवं

उसका आनन्द स्वभाव, सभी इस बात के ऊपर निर्भर है कि आत्मा कार्य-कारण–सम्बन्ध एवं इस माया से अतीत है। अब यदि इस समय तुम कहो कि आत्मा का स्वभाव पहले पूर्ण मुक्त था, इस समय वह बद्ध हो गई है, तो इससे यही जाना जाता है कि वस्तुतः वह मुक्त-स्वभाव थी ही नहीं। तुम जो कहते हो कि वह मुक्तस्वभाव थी, वह असत्य है। किन्तु दूसरी ओर हम देखते है कि हम वास्तविक मुक्त-स्वभाव है; यह जो हम बद्ध हुए है ऐसा ज्ञात हो रहा है यह हमारी केवल भ्रान्ति है। अब इन दोनों पक्षों में कौन सा पक्ष लोगे? या तो पहले पक्ष को भ्रान्ति कहो या दूसरे पक्ष को भ्रान्ति कह कर स्वीकार करो। मैं तो निश्चय ही द्वितीय पक्ष को भ्रान्ति कहूँगा। यही हमारे समुदय भाव और अनुभूति के साथ संगत है। मै अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं स्वभावतः मुक्त हूँ। बद्ध भाव सत्य एवं मुक्त भाव भ्रमात्मक हो, यह ठीक नहीं।

सभी दर्शनों मे स्थूल भाव से यही विचार चलता है। यहाँ तक देखा जाता है कि अत्यन्त आधुनिक दर्शन मे भी यह विचार प्रविष्ट हुआ है। इस सम्बन्ध में दो दल है; एक दल कहता है, आत्मा नामक कोई वस्तु नही है, वह तो केवल भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण सभी जडकणों का वारंबार स्थान-परिवर्तन है; यह समवाय— जिसे तुम शरीर, मस्तिष्क आदि नामों से पुकारते हो, उसी के स्पन्दन से, उसी की गतिविशेष से एवं उसके सभी अंशों के लगातार स्थान-परिवर्तन से यह मुक्त स्वभाव की धारणा आती है। कुछ बौद्ध सम्प्रदाय भी थे, उनका कहना था कि एक मशाल लो, और उसे चारों ओर लगातार ज़ोर से घुमाओ, तो एक वर्तुलाकार प्रकाश दिखाई पड़ेगा। वस्तुतः इस गोलाकार प्रकाश का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह

मशाल प्रत्येक क्षण में स्थान-परिवर्तन करती है। उसी तरह हम भी छोटे छोटे परमाणुओ की समष्टि मात्र हैं, उन परमाणुओं के ज़ोर से घूमने से यह 'अहं' भ्रान्ति उत्पन्न होती है। अतएव एक मत यह हुआ कि शरीर सत्य है, आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है। दूसरा मत यह है कि चिन्ताशक्ति के द्रुत स्पन्दन से जड़ रूप एक भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है, वस्तुतः जड का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह तर्क आज तक चल रहा है,—एक दल कहता है—आत्मा भ्रम मात्र है, दूसरा इसी तरह जड़ को भ्रम कहता है। तुम कौन सा मत लोगे ?

हम तो निश्चय ही आत्मास्तित्ववाद को स्वीकार कर जड़ को भ्रमात्मक कहेंगे। युक्ति दोनों ओर बराबर है, केवल आत्मा के निरपेक्ष अस्तित्व की ओर वाली युक्ति अपेक्षाकृत प्रबल है; क्योंकि जड़ क्या है इसे किसी ने कभी देखा नहीं। हम केवल स्वयं को ही अनुभव कर सकते है, मैंने ऐसा मनुष्य नही देखा, जिसने स्वय के बाहर जाकर जड का अनुभव किया हो। कोई कभी कूद कर अपनी आत्मा के बाहर नहीं जा सकता। अतएव आत्मा के पक्ष मे यह एक दृढ़तर युक्ति हुई। द्वितीयतः आत्मवाद जगत् की सुन्दर व्याख्या हो सकता है, किन्तु जड़वाद नहीं। अतएव जड़वाद के द्वारा जगत् की व्याख्या अयौक्तिक है।

पहले जो आत्मा के स्वाभाविक मुक्त और बद्ध भाव सम्बन्धी विचार का प्रसग उठा था, जड़वाद और आत्मवाद का तर्क उसी का केवल स्थूल भाव है। दर्शनसमूह का सूक्ष्म भाव मे विश्लेषण करने पर तुम देखोगे कि उनमे भी इन दोनों मतों का संघर्ष है। अति आधुनिक दर्शनसमूह में भी हम किसी दूसरे रूप मे उसी प्राचीन

विचार को ही देखते हैं। एक दल कहता है--मनुष्य का तथाकथित पवित्र और मुक्त स्वभाव भ्रम मात्र है—दूसरे इसी प्रकार बद्धभाव को ही भ्रमात्मक कहते हैं। इस जगह भी हम दूसरे दल के साथ ही सहमत है—हमारा बद्धभाव ही भ्रमात्मक है।

अतएव वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि हम बद्ध नहीं है, अपितु नित्यमुक्त है। इतना ही नहीं बल्कि यह सोचना भी कि हम बद्ध है, अनिष्टकर है, भ्रम है, अपने आपको मोह मे डालकर अभिभूत करना है। जहाँ तुमने कहा कि मै बद्ध हूँ, दुर्बल हूँ, असहाय हूँ, तभी तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ होगया, तुमने अपने पैरो मे और एक शृखला डाल ली। इसलिये ऐसी बात कभी न कहना और न इस प्रकार कभी सोचना ही। मैने एक आदमी की कहानी सुनी है; वह वन मे रहता था, एवं दिनरात 'शिवोऽहं, शिवोऽहं' उच्चारण करता था। एक दिन एक बाघ ने उसके ऊपर आक्रमण किया और उसे पकड़कर ले चला। नदी के दूसरे तट पर कुछ लोग यह सब दृश्य देख रहे थे। परन्तु उस व्यक्ति की 'शिवोऽह, शिवोऽहं' की ध्वनि लगातार जारी थी। जितनी देर तक उसमे बोलने की शक्ति थी, बाघ के मुख मे पड़कर भी वह 'शिवोऽह, शिवोऽहं' कहता ही रहा, चुप नही हुआ। इस प्रकार और भी अनेक व्यक्तियों की बात सुनी गई है। कई व्यक्तियों के शत्रुओं ने उनके टुकडे टुकडे कर डाले, परन्तु वे उन्हे आशीर्वाद ही देते रहे। 'सोऽहं सोऽह, मै ही वह, मै ही वह, तुम भी वही'। मै निश्चित पूर्णस्वरूप हूँ, मेरे सभी शत्रु भी पूर्णस्वरूप है। तुम भी वही हो, और मै भी वही हूँ। यही वीर की वान है।

फिर भी द्वैतवादियों के धर्म मे भी अनेक अपूर्व उत्तम उत्तम भाव है – प्रकृति से पृथक् हमारे उपास्य और प्रेमास्पद सगुण ईश्वर हैं—ऐसा सगुण ईश्वरवाद अत्यन्त अपूर्व है। अनेक समय इससे प्राण शीतल होजाता है— किन्तु वेदान्त कहता है, प्राण की यह शीतलता अफीम खानेवालो की नशा के समान अस्वाभाविक है। और इससे दुर्बलता आती है और जगत् में पहले बलसंचार की जितनी आवश्यकता नही थी, आज जगत् मे उसी बलसंचार—शक्तिसंचार की उतनी ही अधिक आवश्यकता है। वेदान्त कहता है—दुर्बलता ही संसार में समस्त दुःख का कारण है, इसीसे सारे दुःख-भोग पैदा होते है। हम दुर्बल है इसीलिये इतने दुःख को भोगते हैं। हम दुर्बलता के कारण ही चोरी-डकैती, झूठ-ठगी तथा इसी प्रकार के अनेकानेक अन्य दुष्कर्म करते हैं। दुर्बल होने के कारण ही हम मृत्यु के मुख मे गिरते है। जहॉ हमे दुर्बल बनाने वाला कोई नहीं है, वहॉ मृत्यु अथवा दूसरा किसी प्रकार का दुःख नही रह सकता। हम लोग केवल भ्रान्तिवश ही दुःख भोगते है। इस भ्रान्ति को उन्मूलित करो, सभी दुःख चले जायेंगे। यह तो बहुत सरल बात है। इन सभी दार्शनिक विचारो और कठोर मानसिक व्यायाम के भीतर से होकर हम समस्त ससार के सर्वापेक्षा सहज एव सरल आध्यात्मिक सिद्धान्त पर पहुँच जायँगे।

अद्वैत वेदान्त जिस रूप मे आध्यात्मिक सिद्धान्त स्थापित करता है, वही सबसे अधिक सहज तथा सरल है। भारत तथा अन्य सभी स्थानो मे इस विषय मे एक बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ था। वेदान्त के आचार्यों ने स्थिर किया था कि यह शिक्षा सार्वजनीन नहीं बनाई

जा सकती, कारण वे जिन सिद्धान्तों पर पहुँचे थे उन्हे लक्ष्य न कर उन्होंने उस प्रणाली पर ही अधिक ध्यान दिया जिसके द्वारा वे इन सब सिद्धान्तों तक पहुँचे थे—और वह प्रणाली सचमुच बड़ी जटिल थी। उस भयानक दार्शनिक तथा उन नैयायिक प्रक्रियाओं को देख-कर वे भय पाते थे। वे सर्वदा सोचते थे, कि इन सभों की शिक्षा प्रतिदिन के कर्मजीवन मे नहीं दी जा सकती, और इस प्रकार के दर्शन की आड़ मे लोग अतिशय अधर्मपरायण हो जायेंगे।

किन्तु मैं तो यह बिलकुल विश्वास ही नहीं करता कि संसार में अद्वैत तत्त्व के प्रचार से दुर्नीति या दुर्बलता की उत्पत्ति होगी। अपितु मुझे इस बात पर अधिक विश्वास है कि दुर्नीति और दुर्बलता के निवारण की वही एक मात्र औषधि है। यही यदि सत्य है, तो जब कि पास ही मे अमृत-स्रोत बहता है, तो लोगों को कीचड़ का जल क्यों पीने देते हो? यदि यही सत्य है, कि सभी शुद्धस्वरूप है तो इसी मुहूर्त सब संसार को यह शिक्षा क्यो नहीं देते? साधु-असाधु, स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, छोटे-बड़े, सभी को डंके की चोट पर यह शिक्षा क्यो नहीं देते? जिस किसी व्यक्ति ने संसार में देह धारण की है, जो कोई देह धारण करेगा, जो व्यक्ति सिंहासन पर बैठा हुआ है अथवा रास्ते मे झाड़ू लगा रहा है, जो धनी है, जो निर्धन है, उन सभीको यह शिक्षा क्यों नही देते? मै राजाओं का भी राजा हूँ, मुझसे बढ़कर बडा राजा कोई नहीं है। मै देवताओं का भी देवता हूँ, मुझसे बढ़कर कोई देवता नही है।

इस समय यह बहुत कठिन कार्य मालूम पड़ता है, बहुतों को तो यह विस्मयजनक ज्ञात होता है, किन्तु यह सब कुसंस्कार के ही

कारण है, इसका और दूसरा कोई कारण नही। सभी प्रकार के कदन्न और दुष्पाच्य खाद्य खाकर और निरन्तर उपवास करके हमने अपने को सुखाद्य खाने के अनुपयुक्त कर रखा है। हमने वचपन से ही दुवलता की वाते सुनी है। यह दुर्बलता भूत मे विश्वास करने के समान ही है। लोग सर्वदा कहते हैं कि मै भूत को नही मानता —किन्तु ऐसे वहुत कम लोग मिलेगे, जिनका शरीर अन्धेरे मे थोड़ा कम्पित न हो जाय। यह केवल कुसंस्कार है। ठीक इसी तरह लोग कहा करते है कि हम इसे नहीं मानते, उसे नहीं मानते इत्यादि— किन्तु समय आने पर अवस्थाविशेष मे अनेक व्यक्ति मन ही मन कहने लगते है, यदि कोई देवता या ईश्वर हो तो मेरी रक्षा करे। वेदान्त से यही एक प्रधान तत्त्व मिलता है, और एक मात्र यही सनातनत्व का दावा कर सकता है।

वेदान्त ग्रन्थ कल ही नष्ट हो सकते है। यह तत्त्व चाहे पहले हिन्दुओ के मस्तिष्क मे उदित हुआ हो या उत्तर मेरु के निवासियो के मस्तिष्क मे, इससे कोई प्रयोजन नही; किन्तु यह सत्य है, और जो सत्य है वह सनातन है, तथा सत्य हमे यही शिक्षा देता है कि वह किसी व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नही है। मनुष्य, पशु, देवता, ये सभी इस एक सत्य के अधिकारी हैं। उन्हे यही सिखाओ, जीवन को दु:खमय वनाने की क्या आवश्यकता है? लोगो को अनेक प्रकार के कुसंस्कारो मे क्यो पड़ने देते हो? केवल यहाँ (इंग्लैण्ड मे) ही नही, इस तत्त्व की जन्मभूमि मे भी तुम यदि इस तत्त्व का उपदेश करो, तो वहाँ के लोग भी भयभीत होंगे। और कहेगे—ये वाते तो संन्यासियो के लिये हैं जो संसार को त्याग कर जंगल मे निवास

करते हैं। किन्तु हम लोग तो सामान्य गृहस्थ हैं; धर्म करने के लिये हमे किसी न किसी प्रकार के भय या क्रियाकाण्ड की आवश्यकता रहती ही है, इत्यादि।

द्वैतवाद ने संसार पर बहुत दिनों तक शासन किया है, और यह उसीका फल है। अच्छा, एक नई परीक्षा क्यों न करो? संभव है, सभी मनुष्यों को ऐसी धारणा करने मे लाखों वर्ष लग जायँ, किन्तु इसी समय इसे क्यों न आरम्भ कर दो? यदि हम अपने जीवन मे बीस मनुष्यों को भी यह बात बतला सकें, तो समझो कि हमने बहुत बड़ा काम किया।

भारतवर्ष मे और एक बड़ी शिक्षा प्रचलित है, जो पूर्वोक्त तत्व-प्रचार की विरोधी मालूम होती है। वह शिक्षा यह है कि—'मै शुद्ध हूँ, आनन्द स्वरूप हूँ,' इस प्रकार मौखिक कहना तो ठीक है, किन्तु जीवन में तो हम इसे सर्वदा नहीं दिखला सकते। मै इस बात को मानता हूँ आदर्श सभी समय अत्यन्त कठिन होता है। प्रत्येक बालक आकाश को अपने सिर से बहुत ऊँचाई पर देखता है, किन्तु उस कारण से क्या हम आकाश की ओर देखने की चेष्टा भी न करे? कुसंस्कार की ओर जाने से क्या सब अच्छा होजायगा? यदि अमृत का लाभ न कर सके तो क्या विषपान करने से ही कल्याण होगा? हम इसी समय सत्य का अनुभव नहीं कर सकते, इसलिये अन्धकार, दुर्बलता और कुसंस्कार की ओर जाने स ही क्या कल्याण होगा?

विभिन्न प्रकार के द्वैतवाद के सम्बन्ध में हमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु जो कोई उपदेश दुर्बलता की शिक्षा देता है, उसी पर हमें

विशेष आपत्ति है। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, जिस समय दैहिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक शिक्षा पाते है, उस समय मै उनसे एक मात्र यही प्रश्न करता हूँ—"क्या तुम इससे बल पाते हो?" क्योंकि मैं जानता हूँ एकमात्र सत्य ही बल प्रदान करता है। मैं जानता हूँ, सत्य ही एकमात्र प्राणप्रद है। सत्य की ओर गये बिना हम किसीसे भी वीर्यलाभ नहीं कर सकते और वीर हुए बिना सत्य के समीप भी नहीं पहुँच सकते। इसी हेतु जो कोई मत, जो शिक्षाप्रणालियाँ मन और मस्तिष्क को दुर्बल कर दें और मनुष्य को कुसस्कारावि्ष्ट कर डाले, जिनसे मनुष्य अन्धकार मे टटोलता रहे, जिनसे मनुष्य सदैव ही सब प्रकार के विकृतमस्तिष्क-प्रसूत असंभव, अजीब और कुसंस्कारपूर्ण विषयो के अन्वेषण में लग जाय, मै उन सब प्रणालियों को पसन्द नही करता, क्योकि मनुष्यो के ऊपर उन सब का परिणाम बडा भयानक होता है, और उनसे कुछ भी उपकार नहीं होता, वे सब व्यर्थ है।

जो इन बातों से अभिज्ञ है, वे हमारे साथ इस विषय मे एक-मत होंगे कि ये सब मनुष्य को विकृत और दुर्बल बना डालती हैं—इतना दुर्बल कि क्रमशः उसके लिए सत्यलाभ करना और उस सत्य के आलोक मे चलकर जीवन यापन करना एक प्रकार से असभव हो जाता है। अतएव हमारे लिये आवश्यक है एक मात्र बल या शक्ति मे शक्ति-संचार ही इस भव-व्याधि की एकमात्र महौषधि है। धनहीन व्यक्ति जब धनियो द्वारा पददलित होते है, उस समय शक्तिसंचार ही उनके लिये एक मात्र औषधि है। जब मूर्ख विद्वानों द्वारा उत्पीडित होता है उस समय भी बल ही एक मात्र औषधि है। और जिस समय पापिगण अन्य पापियो से उत्पीड़ित होते हैं, उस समय भी यही

एकमात्र अव्यर्थ महौपधि है। और अद्वैतवाद जिस प्रकार का वल और जैसी शक्ति देता है, उस प्रकार का वल और शक्ति किसी से भी नहीं मिल सकती। अद्वैतवाद हमे जिस प्रकार नीति-परायण वनाता है, उस प्रकार कोई भी हमे नीति-परायण नही वना सकता। जिस समय समस्त दायित्व हमारे कन्धों पर आ पड़ता है, उस समय हम जितने उच्च भाव से कार्य कर पाते है, उतना और किसी भी अवस्था मे उस तरह नहीं कर पाते।

मै तुम लोगों से यह पूछना चाहता हूँ कि यदि एक नन्हे बच्चे को तुम्हारे हाथ सौप दूँ तो तुम उसके प्रति कैसा व्यवहार करोगे? उस क्षण के लिए तुम लोगो का जीवन वदल जायगा। तुम्हारा स्वभाव किसी भी प्रकार का क्यों न हो, अन्तत. उन क्षणो के लिए तुम सम्पूर्ण निःस्वार्थी बन जाओगे। यदि तुम्हे उत्तरदायी वनाया जाय तो तुम्हारी सारी पापप्रवृत्तियॉ दूर हो जायँगी, तुम्हारे चरित्र मे परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार जव सारे उत्तरदायित्व का बोझ हम पर पड़ता है तभी हम अपने सर्वोच्च भाव मे आरोहण करते है। जव हमारे सारे दोप और किसीके मत्थे नही मढे जाते, जव शैतान या भगवान किसी को भी हम अपने दोपों के लिए उत्तरदायी नहीं समझते तभी हम सर्वोच्च भाव मे पहुँच जाते है। अपने भाग्य के लिए मै स्वय ही उत्तरदायी हूँ। मै स्वयं ही शुभाशुभ दोनो का कर्ता हूँ। किन्तु मेरा स्वरूप शुद्ध तथा आनन्द मात्र है।

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेद:
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानंदरूप: शिवोऽह शिवोऽहम् ॥
न पुण्यं न पापं न सौख्य न दु:खम्
न मन्त्रं न तीर्थं न वेदार्न यज्ञा: ।
अहं भोजनं नैव भोज्य न भोक्ता
चिदानन्दरूप. शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

वेदान्तं कहता है कि साधारण मनुष्य के लिए यह सत्य ही एक मात्र अवलम्बनीय है। उस अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यही एक मात्र उपाय है—सभों से यही कहना है कि हमी वह है। वार बार ऐसा कहने से वल आयेगा। 'शिवो ऽहं' रूपी यह अभय-वाणी क्रमशः अधिकाधिक पुष्ट होकर हमारे हृदय मे, हमारे सभी भावो मे भिद जायगी, अन्त मे हमारी नस-नस मे, शरीर के प्रत्येक भाग मे यह समा जायगी। ज्ञानसूर्य की किरणे जितनी अधिक उज्ज्वल होने लगती है, मोह उतना ही दूर भाग जाता है, अज्ञानराशि ध्वंस होती है और धीरे धीरे एक समय ऐसा आता है जब कि सारा अज्ञान विलकुल लुप्त हो जाता है एवं एकमात्र ज्ञानसूर्य ही अवशिष्ट रह जाता है। अवश्य ही अनेको को यह वेदान्त-तत्व भयानक मालूम हो सकता है, किन्तु उसका कारण कुसंस्कार है, यह मैने पहले ही कहा है। इसी देश मे (इग्लैंड मे) ऐसे वहुत लोग हैं जिनसे मै यदि कहूँ कि इस दुनिया मे शैतान नाम की कोई चीज नहीं है तो वे समझेगे कि धर्म का सत्यानाश होगया। अनेकों ने मुझसे कहा है कि शैतान के न रहने से धर्म किस तरह कायम रह सकता है? उन लोगों का कहना है कि हमे परिचालित करने के लिये कोई न रहने से धर्म का क्या अर्थ है?

शासन करने को यदि काई न रहे तो हम अपना जीवन किस तरह बिता सकते हैं? सच बात तो यह है कि हमें इस प्रकार का व्यवहार अच्छा लगता है। इस भाव से रहना हमारा अभ्यास होगया है और इसीलिये हम ऐसे जीवन को पसद करते है। प्रति दिन यदि हमें किसी ने नहीं डॉटा तो हमे सुख नहीं मिलता। यह वही कुसंस्कार है। किन्तु अब यह बात कितनी ही भयानक क्यों न मालूम हो, ऐसा एक समय अवश्य ही आयेगा जब अतीत की सारी बातों का स्मरण कर, जिन कुसंस्कारों ने शुद्ध अनत आत्मा पर आच्छादन फैला दिया था, हम उन प्रत्येक की हँसी उड़ायेगे और आनन्द, सत्य व दृढता के साथ कहेगे कि मै ही 'वह' हूँ, चिरकाल वही था और सर्वदा वही रहूँगा।

१४. अमरत्व

(अमेरिका में दिया हुआ भाषण)

जीवात्मा के अमरत्व के सम्बन्ध मे मनुष्य ने जितनी बार प्रश्न किया है, इस तत्त्व के रहस्य का उद्‌घाटन करने के लिये उसने जगत् मे जितनी खोज की है, यह प्रश्न मनुष्य के हृदय को जितना प्रिय और उसके जितना निकट है, यह प्रश्न हमारे अस्तित्व के साथ जितना अच्छेद्य भाव से सम्बन्धित है उतना और कौनसा प्रश्न है ? यह कवियों की कल्पना का विषय रहा है, साधु, महात्मा, ज्ञानी— सभी की चिन्ता का यह विषय रहा है, सिंहासन पर बैठे हुये राजाओं ने इस पर विचार किया है, पथ के भिखारियों ने भी इसका स्वप्न देखा है। श्रेष्ठतम मानवों ने इसका उत्तर पाया है, और अतिनिकृष्ट मनुष्यो ने भी इसकी आशा की है। इस विषय मे लोगो का आग्रह अभी नष्ट नही हुआ है, और जब तक मानव प्रकृति विद्यमान है तब तक होगा भी नहीं। विभिन्न विचारक मस्तिष्को ने इसके विभिन्न उत्तर दिये है। दूसरी ओर इतिहास के प्रत्येक युग मे हजारो व्यक्तियों ने इस प्रश्न को बिलकुल अनावश्यक कहकर छोड दिया है, फिर भी यह प्रश्न ज्यो का त्यो नवीन ही बना हुआ है। जीवन-संग्राम के शोरगुल मे हम प्राय इस प्रश्न को भूल से जाते हैं, परन्तु जब अचानक कोई मर जाता है, एक ऐसा व्यक्ति जिससे हम प्रेम करते है, जो हमारे हृदय के अति निकट और अत्यन्त प्रिय है अचानक हमसे छीन लिया जाता है तब हमारे चारों का सघर्ष और शोरगुल क्षण भर

के लिये मानो रुक जाता है, सब कुछ मानो निस्तब्ध हो जाता है और हमारी आत्मा के गंभीरतम प्रदेश से वही प्राचीन प्रश्न उठता है कि इसके बाद क्या है ? " देहान्त के बाद आत्मा की क्या गति होती है ? " समस्त मानवीय ज्ञान अनुभवजन्य है, बिना अनुभव के हम कुछ भी नही जान सकते। हमारा तर्क, हमारा ज्ञान सभी कुछ सामञ्जस्य-प्राप्त अनुभवो के ऊपर—उनके साधारण भाव (Generalisation) के ऊपर निर्भर है। हम अपने चारो ओर क्या देखते है ? सतत परिवर्तन। बीज से वृक्ष बनता है और वह फिर बीजरूप मे परिणत हो जाता है। एक जीव उत्पन्न हुआ, कुछ दिन जीवित रहा, फिर मर गया, इस प्रकार मानो एक वृत्त पूरा हुआ। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। और तो क्या, पर्वतसमूह तक धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से घिसकर चूर्ण हो रहे है। नदियाँ धीरे धीरे पर निश्चित रूप से सूखती जाती हैं, समुद्र से बादल उठते है और वर्षा करके फिर समुद्र मे ही मिल जाते है। सर्वत्र ही एक एक वृत्त पूरा हो रहा है; जन्म, वृद्धि और क्षय गणित के समान ठीक एक के बाद एक आ जा रहे है। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। इस सब के अन्दर, क्षुद्रतम परमाणु से आरम्भ करके उच्चतम सिद्ध पुरुष पर्यन्त लाखो प्रकार के विभिन्न नाम-रूपयुक्त वस्तुराशि के अन्दर एवं अन्तराल मे हम एक अखण्ड भाव देखते है। हम प्रति दिन ही देखते है कि वह दुर्भेद्य दीवार जो एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करती प्रतीत होती थी, तोडी जा रही है और आधुनिक विज्ञान समस्त भूतो को एक ही ऐसा पदार्थ मानने लगा है जो विभिन्न प्रकार से विभिन्न रूपो में अभिव्यक्त हो रहा है; वह एक प्राणशक्ति ही मानो नाना रूपो मे नाना प्रकार से प्रकाशित हो रही है—मानो वह सब को जोड़ने वाली एक शृंखला के समान है—

और ये सब विभिन्न रूप मानो इस शृंखला के ही एक एक अंश है, अनन्त रूपों मे विस्तृत किन्तु फिर भी उसी एक शृंखला के अंश है। इसी को क्रमोन्नतिवाद कहते हैं। यह एक अत्यन्त प्राचीन धारणा है, उतनी ही प्राचीन जितना कि मानव समाज। केवल मानवीय ज्ञान की वृद्धि और उन्नति के साथ साथ वह मानो हमारी आँखो के सम्मुख अधिकाधिक उज्ज्वल रूप से प्रतीत हो रही है। एक बात और है जो प्राचीन लोगो ने विशेष रूप से समझी थी, परन्तु जो आधुनिक विचारको ने अभी ठीक ठीक नहीं समझ पाई है, और वह है क्रमसकोच। बीज का ही वृक्ष होता है, बालू के कण का नहीं। पिता ही पुत्र मे परिणत होता है, मिट्टी का ढेला नहीं। अब प्रश्न यह है कि यह क्रमविकास-प्रक्रिया आरम्भ होने से पूर्व क्या अवस्था थी? बीज पहले क्या था? वह वृक्षरूप मे था। भविष्य मे होने वाले वृक्ष की सभी सम्भावनाये बीज मे निहित हैं। छोटे बच्चे मे भावी मनुष्य की समस्त शक्ति अन्तर्निहित है। सब प्रकार का भावी जीवन ही अव्यक्त भाव से उसके बीज मे विद्यमान है। इसका तात्पर्य क्या है? भारतवर्ष के प्राचीन दार्शनिक इसीको क्रमसकोच कहते थे। इस प्रकार हम देखते है कि प्रत्येक क्रमविकास के पहले क्रमसकोच का होना अनिवार्य है। किसी ऐसी वस्तु का क्रमविकास नही हो सकता जो पूर्व से ही वर्तमान नहीं है। यहाँ पर फिर आधुनिक विज्ञान हमे सहायता देता है। गणित-शास्त्र के तर्क से आप जानते हैं कि जगत् मे दृश्यमान शक्ति का समष्टि-योग (Sum total) सदा एकसा ही रहता है। आप एक बिन्दु जड़ अथवा एक बिन्दु शक्ति को घटा या बढा नहीं सकते। अतएव शून्य से कभी क्रमविकास नहीं हो सकता। तब फिर वह कहाँ से आता है? अवश्य ही इससे पूर्व के

क्रमसंकोच से। बालक क्रमसकुंचित मनुष्य है और मनुष्य क्रमविकसित बालक है। क्रमसंकुचित वृक्ष ही बीज है और क्रमविकसित बीज ही वृक्ष। सभी प्रकार के जीवन की उत्पत्ति की सम्भावना उन्ही के बीज मे है। अब यह समस्या कुछ सरल हो जाती है। अब इसी तत्त्व के साथ पूर्वोक्त समुदय जीवन की अखण्डता की आलोचना करो। क्षुद्रतम जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यत वस्तुतः एक ही सत्ता है—एक ही जीवन वर्तमान है। जिस प्रकार एक ही जीवन मे हम शैशव, यौवन, वार्धक्य आदि विविध अवस्थाये देखते है उसी प्रकार शैशव अवस्था के पीछे क्या है यह देखने के लिये विपरीत दिशा मे अग्रसर होकर देखो, देखते जाओ जब तक कि तुम जीवाणु तक न पहुँच जाओ। इसी प्रकार इस जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यंत मानो एक ही जीवन-सूत्र विराजमान है। इसी को क्रमविकास कहते है और यह हम पहले ही देख चुके है कि प्रत्येक क्रमविकास से पूर्व ही एक क्रमसंकोच रहता है। जो जीवनी शक्ति क्षुद्रतम जीवाणु से लेकर धीरे धीरे पूर्णतम मानव अथवा पृथिवी पर आविर्भूत ईश्वरावतार रूप मे क्रमविकसित होती है वह सम्पूर्ण शक्ति अवश्य ही सूक्ष्म रूप से जीवाणु मे अवस्थित थी। यह समस्त श्रेणी उसी एक जीवन की ही अभिव्यक्ति मात्र है, और यह समुदय व्यक्त जगत् उसी एक जीवाणु मे अव्यक्त भाव से निहित था। यह समस्त जीवनी शक्ति, और तो क्या, मर्त्य लोक मे अवतीर्ण ईश्वर तक इसमे अन्तर्निहित थे। अवतार श्रेणी के मानव तक इसके अन्दर निहित थे; केवल धीरे धीरे—बहुत धीरे क्रमशः उन सब की अभिव्यक्ति हुई है। जो सर्वोच्च चरम अभिव्यक्ति है वह भी अवश्य ही बीज भाव से सूक्ष्माकार मे उसके अन्दर मौजूद थी— फिर ऐसा होने पर यह जो एक शक्ति से सभी श्रेणियाँ

या शृंखलाये आती है, वह किसका क्रमसंकोच है ? यह उसी सर्वव्यापिनी जगन्मयी जीवनी शक्ति का क्रमसंकोच था, और यह जो क्षुद्रतम जीवाणु नाना प्रकार के जटिल यत्रो से युक्त उच्चतम बुद्धिशक्ति के आधारस्वरूप मनुष्य के आकार में अभिव्यक्त हो रहा है, कौन सी वस्तु क्रमसंकुचित होकर इस जीवाणु के आकार में स्थित थी ? वह सर्वव्यापी जगन्मय चैतन्य ही है-वही उस जीवाणु मे क्रमसंकुचित होकर वर्तमान था। वह सम्पूर्ण पहले से ही पूर्ण भाव से वर्तमान था। वह थोडा थोड़ा करके वढ़ रहा था यह बात नही है। वढ़ने की बात को मन से एकदम निकाल दीजिये। वृद्धि कहने से ही मालूम होता है कि कोई वस्तु बाहर से आ रही है। वृद्धि मानने पर पूर्वोक्त गणित के सिद्धान्त को अर्थात् जगत् की शक्तिसमष्टि सर्वदा सर्वत्र समान है, इसे अस्वीकार करना होगा। इस जागतिक सर्वव्यापी चैतन्य की कभी वृद्धि नहीं होती, यह तो सदा ही पूर्ण भाव से विद्यमान था, केवल अभिव्यक्ति यहाँ पर हुई। विनाश का अर्थ क्या है ? यह एक गिलास है। मैंने इसको भूमि पर फेंक दिया और वह चूर चूर हो गया। अब प्रश्न है कि गिलास क्या हुआ ? वह केवल सूक्ष्म रूप मे परिणत हो गया. बस। तो विनाश का अर्थ हुआ स्थूल की सूक्ष्म भाव मे परिणति। उसके उपादानभूत परमाणु एकत्र होकर गिलास नामक कार्य मे परिणत हुए थे। वे अब अपने कारण में चले गये और इसीका नाम विनाश है अर्थात् कारण मे लय हो जाना। कार्य क्या है ? कारण का व्यक्त भाव। अन्यथा कार्य और कारण मे स्वरूपत' कोई भेद नही है। फिर इसी गिलास की वात लीजिये ! यह अपने उपादानो और अपने निर्माता की इच्छा के सहयोग से वना है। ये दोनों ही उसके कारण है और उसमे वर्तमान

हैं निर्माता की इच्छाशक्ति अब उसमें किस रूप मे विद्यमान है ? संहतिशक्ति (Adhesion) के रूप मे ।

यह शक्ति न रहने पर इसका परमाणु अलग अलग हो जाता । तो कार्य क्या हुआ ? वह कारण के साथ अभेद है, केवल उसने एक दूसरा रूप धारण कर लिया है। जिस समय कारण निर्दिष्ट समय के लिये अथवा निर्दिष्ट स्थान के अन्दर परिणत, घनीभूत और सीमाबद्ध भाव से रहता है उस समय वही कारण कार्य कहलाता है। इस बात को हमें ध्यान में रखना चाहिये । इसी तत्त्व को हमारी जीवनसम्बन्धी जो धारणा है उसमें प्रयुक्त करने पर हम देखते हैं कि जीवाणु से लेकर पूर्णतम मानव पर्यन्त सभी श्रेणियाँ अवश्य ही उसी विश्वव्यापिनी प्राणशक्ति के साथ अभिन्न हैं । किन्तु अमृतत्व के सम्बन्ध मे जो प्रश्न था वह अभी मिटा नहीं । हमने क्या देखा ? पूर्वोक्त विचार द्वारा हमने इतना ही देखा कि जगत् का कोई पदार्थ ध्वस्त नहीं होता । नूतन कुछ भी नहीं है, होगा भी नहीं । वही एक ही प्रकार की वस्तुये पहिये के समान बार बार उपस्थित हो रही है । जगत् मे जितनी गति है वह सभी तरंग के आकार में एक बार उठती है, फिर गिरती है । कोटि कोटि ब्रह्माण्ड सूक्ष्मतर रूप से प्रसूत हो रहे है—स्थूल रूप, धारण कर रहे हैं । फिर लय होकर सूक्ष्म भाव धारण कर रहे है । फिर इसी सूक्ष्मभाव से उनका स्थूल भाव में आना—कुछ दिनों तक उसी अवस्था मे रहना और फिर धीरे धीरे उसी कारण मे जाना । जाता क्या है ? केवल रूप, आकृति । वह रूप नष्ट हो जाता है किन्तु फिर आता है । एक हिसाब से समझा जाय तो यह शरीर तक अविनाशी है । एक हिसाब से सभी शरीर

और सभी रूप नित्य हैं। मान लो कि मैं पासा खेल रहा हूँ। मान लो कि ६–५–३–४ आये। मै और खेलने लगा। खेलते खेलते एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब ये ६-५-३-४ इसी क्रम से आयेगे। और खेलो, फिर ये आयेगे किन्तु देर मे। मै जगत् के प्रत्येक परमाणु की एक एक पासे से तुलना करता हूँ। उन्हीं को बार बार फेका जा रहा है, और वे वार वार नाना प्रकार से गिरते हैं। आपके सम्मुख जो समस्त पदार्थ है वे सब परमाणुओं के एक विशिष्ट प्रकार के सन्निवेश से उत्पन्न है। यह गिलास, यह मेज, यह जलघट, ये सभी वस्तुये परमाणुओं का समवायविशेष है—क्षण भर के बाद शायद यह समुदाय-विशेष नष्ट हो जा सकता है। किन्तु एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब ठीक यही समवाय आकर उपस्थित होगा—जब आप सब इसी तरह बैठे होगे और यह जलघट अथवा अन्य वस्तुये जो कुछ भी है वे सभी यथास्थान रहेगी और ठीक इसी विषय की आलोचना होगी। अनन्त बार इसी प्रकार हुआ है और अनन्त बार इसी प्रकार होगा। यहाँ तक हमने स्थूल जगत् की—बाह्य वस्तुओं की आलोचना की। हमने क्यों देखा? यही कि इन भौतिक पदार्थसमूहों की विभिन्न समवाय मे पुनरावृत्ति अनन्त काल तक होती रहती है।

इसके साथ ही साथ और एक प्रश्न उठ खडा होता है—भविष्य को जानना सम्भव है या नहीं। आप लोगों ने शायद ऐसे आदमी को देखा है जो मनुष्य के अतीत व भविष्य की सारी बाते बतला देता है। यदि भविष्य किसी नियम के अधीन न हो तो किस प्रकार भविष्य के सम्बन्ध में हम कह सकते है? परन्तु हमने पहले ही देखा है कि भविष्य मे बीती घटनाओ की ही पुनरावृत्ति होती है। जो भी हो

इससे आत्मा का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। हिण्डोले की बात याद करो। वह लगातार घूमता रहता है। कई आदमी आते है और उसके एक एक पालने में बैठ जाते है। झूला घूमकर फिर पलट आता है।' वे जब उतर गये तो दूसरा एक दल आ बैठा। क्षुद्रतम जन्तु से लेकर उच्चतम मानव तक प्रकृति का प्रत्येक रूप ही मानो ऐसे एक एक दल हैं, और प्रकृति एक बड़ा झूला है तथा प्रत्येक शरीर या रूप इस झूले के एक एक पालना जैसा है। नई आत्माओं का एक एक दल उन पर चढ रहा है और जब तक उनको पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक अधिकाधिक उच्च पथ मे उनकी गति है और अन्त में झूले से वे बाहर आती है किन्तु झूला निरन्तर चलता रहता है—हमेशा दूसरे लोगों को ग्रहण करने के लिए तैयार है। एवं जब तक शरीर इस चक्र के भीतर, इस झूले के भीतर अवस्थित है तब तक निश्चित रूप से तथा गणित के हिसाब से ये बातें बतला दी जा सकती है कि अब वह किस ओर जायगा। किन्तु आत्मा के बारे मे ये सब बाते नही कही जासकती। अतएव प्रकृति के भूत तथा भविष्य निश्चित रूप से गणित की तरह ठीक ठीक बतलाना असम्भव नहीं है। अब हमने देखा है कि जड परमाणु इस समय जिस प्रकार एकीभूत (संहत) हैं, विशिष्ट समय पर वे फिर ठीक उसी रूप मे सहत होते हैं। अनादि काल से ऐसे ही प्रवाह के रूप मे जगत् की नित्यता चल रही है। किन्तु इससे तो आत्मा का अमरत्व प्रमाणित नहीं हुआ। हमने यह भी देखा है कि किसी भी शक्ति का नाश नहीं होता, किसी जड़ वस्तु को भी कभी शून्य मे परिणत नहीं किया जा सकता। तब उनका क्या होता है? उनके विभिन्न परिणाम होते है, अन्त मे जहाँ से उनकी उत्पत्ति हुई थी, वहीं वे पुनरावृत्त होते है। सरल रेखा मे

कोई गति नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु को ही घूम फिर कर अपने पूर्व स्थान पर लौट आना पड़ता है, क्योंकि सरल रेखा अनन्त भाव से बढाने पर वृत्त मे परिणत होती है। यदि ऐसा ही हुआ तो अनंत काल तक किसी आत्मा की अवनति हो ही नही सकती—यह किसी तरह हो ही नही सकता। इस जगत् मे प्रत्येक वस्तु, शीघ्र हो या विलम्ब से ही हो, अपनी अपनी वर्तुलाकार गति को सम्पूर्ण कर फिर अपनी उत्पत्ति के स्थान पर पहुँचती है। तुम, मै अथवा ये सब आत्माएँ क्या है? पहले क्रमसकोच तथा क्रमविकास तत्व की आलोचना करते हुए हमने देखा है. तुम, हम, उसी विराट विश्वव्यापी चैतन्य या प्राण या मन के अंशविशेष हैं; हम उसी के सकोचस्वरूप है। अतएव घूमकर हम क्रमविकास की प्रक्रिया के अनुसार उस विश्वव्यापी चैतन्य मे लौट जायेगे—वह विश्वव्यापी चैतन्य ही ईश्वर है। लोग उसी विश्वव्यापी चैतन्य को प्रभु, भगवान, ईसा, बुद्ध या ब्रह्म कहते है—जडवादी उसी की शक्ति के रूप मे उपलब्धि करते है एवं अज्ञेयवादी उसी की उस अनंत अनिर्वचनीय सर्वातीत पदार्थ के रूप मे धारणा करते है। वही वह विश्वव्यापी प्राण है, वही विश्वव्यापी चैतन्य है—वही विश्यव्यापिनी शक्ति है और हम सब उसी के अंश है।

किन्तु आत्मा के अमरत्व को प्रमाणित करने के लिये इतना ही पर्याप्त नही है। अभी भी अनेक संशय और आशकाये रह गईं। किसी शक्ति का नाश नही है. यह बात सुनने मे बडी अच्छी लगती है. किन्तु वास्तविक बात यह है कि हम जितनी भी शक्तियॉ देखते है सभी मिश्रणोत्पन्न हैं, जितने भी रूप देखते है सभी मिश्रण से उत्पन्न है। यदि आप शक्ति के सम्बन्ध मे विज्ञान का मत ग्रहण कर

उसे कतिपय शक्तियो की समष्टि मात्र मानते है तो फिर आपका 'मैपन' कहाँ रहा? जो कुछ भी मिश्रण से उत्पन्न है वह शीघ्र अथवा विलम्ब से अपने कारणीभूत पदार्थ मे लय हो जाता है। जो कुछ भो कतिपय कारणों के समवाय से उत्पन्न है उसी की मृत्यु, उसी का विनाश अवश्यम्भावी है। शीघ्र या विलम्ब से वह विश्लिष्ट हो जायगा, भग्न हो जायगा और अपने कारणीभूत पदार्थ मे परिणत हो जायगा। आत्मा कोई भौतिक शक्ति अथवा चिन्ता-शक्ति नहीं है। वह चिन्ता-शक्ति का स्रष्टा है, स्वयं चिन्ता-शक्ति नहीं। वह शरीर का गठनकर्ता है किन्तु वह स्वय शरीर नही है। क्यो? शरीर कभी आत्मा नही हो सकता, क्योकि वह चैतन्यवान् नहीं है। मृत व्यक्ति अथवा कसाई की दूकान का मांसखण्ड कभी चैतन्यवान् नही होता। हम चैतन्य शब्द से क्या समझते है? प्रतिक्रिया शक्ति।

और गम्भीर भाव से इस तत्व की आलोचना कीजिये। हमारे सम्मुख यह एक जलघट है, मैं उसे देख रहा हूँ। होता क्या है? इस घट से कुछ प्रकाश-किरणे निकल कर मेरी ऑख मे प्रवेश करती है। वे मेरे अक्षिजाल (Retina) के ऊपर एक चित्र अंकित करती है। और यह चित्र जाकर मेरे मस्तिष्क में पहुँचता है। शरीरविज्ञान-वेत्तागण जिसको अनुभवात्मक स्नायु (Sensory nerves) कहते है उन्हीं के द्वारा यह चित्र भीतर मस्तिष्क में ले जाया जाता है। किन्तु अभी देखने की क्रिया पूरी नही हुई, क्योकि अभी तक भीतर की ओर से कोई प्रतिक्रिया नही आई। मस्तिष्क के अन्दर स्थित जो स्नायु-केद्र है वह इसे मन के पास ले जायगा, और मन उसके ऊपर प्रतिक्रिया करेगा। इस प्रतिक्रिया के होते ही घट मेरे सम्मुख

प्रकाशित हो जायगा। एक सरल उदाहरण से यह वात भली प्रकार समझ मे आ जायगी । मान लीजिये आप खूब एकाग्र होकर मेरी बात सुन रहे है और इसी समय एक मच्छर आपकी नाक पर काट रहा है, किन्तु आप मेरी वात सुनने मे इतने तन्मय है कि उसका काटना आपको अनुभव नही होता। ऐसा क्यों ? मच्छर आपके चमडे को काट रहा है; उस स्थान पर कितने ही स्नायु है, और ये स्नायु इस संवाद को मस्तिष्क के पास पहुँचा भी रही है; इसका चित्र भी मस्तिष्क मे मौजूद है; किन्तु मन दूसरी ओर लगा है इसलिये वह प्रतिक्रिया नहीं करता, अतएव आप उसके काटने का अनुभव नही करते। हमारे सामने एक नया चित्र आया किन्तु मन ने प्रतिक्रिया नहीं की—ऐसा होने पर हम उसे अनुभव नही कर सकते, किन्तु प्रतिक्रिया होते ही उसका ज्ञान होगा और तभी हम देखेंगे, सुनेगे और अनुभव आदि करने मे समर्थ होगे। इस प्रतिक्रिया के साथ साथ ज्ञान का प्रकाश होता है। अतएव हमने समझ लिया कि शरीर कभी ज्ञान का प्रकाश नही कर सकता, कारण, हम देखते हैं कि जिस समय मनोयोग नही रहता उस समय हम अनुभव नही करते। ऐसी वटनाये सुनी गई है कि किसी किसी विशेष अवस्था मे कोई कोई व्यक्ति जो भाषा उसने कभी नहीं सीखी है वह बोलने मे समर्थ हुआ है। वाद में खोजने पर पता लगा है कि वह व्यक्ति कभी वचपन मे ऐसी जाति मे रहा है जो उस भाषा को बोलती थी, और वही संस्कार उसके मस्तिष्क में वर्तमान था। वह सब वहाँ पर सञ्चित था, वाद मे किसी कारण से उसके मन मे प्रतिक्रिया हुई और तभी ज्ञान आ गया और वह व्यक्ति उस भाषा को बोलने मे समर्थ हुआ। इसीसे फिर सिद्ध होता है कि केवल

-मन ही पर्याप्त नहीं है, मन भी किसी के हाथ मे यंत्र मात्र है; उस व्यक्ति की बाल्यावस्था मे उसके मन के अन्दर वह भाषा गूढ़ भाव से सञ्चित थी—किन्तु वह उसे नही जानता था, किन्तु बाद मे एक ऐसा समय आया जब वह उसे जान सका। इससे यही प्रमाणित होता है कि मन के अतिरिक्त और भी कोई है—उस व्यक्ति के बाल्यकाल मे इसी 'और कोई' ने उस शक्ति का व्यवहार नही किया, किन्तु जब वह बड़ा हुआ तब उसने उस शक्ति का व्यवहार किया। पहले यह शरीर, उसके मन, अर्थात् विचार का यंत्र, उसके बाद इस मन के पीछे रहने वाला वही आत्मा। आधुनिक दार्शनिक लोग चिन्ता को मस्तिष्क मे स्थित परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के परिवर्तन के साथ अभेद मानते हैं, अतएव वे ऊपर कही हुई घटनावली की व्याख्या नहीं कर पाते, इसीलिये वे साधारणतः इन सब बातों को बिल्कुल अस्वीकार कर देते हैं।

जो हो, मन के साथ मस्तिष्क का विशेष सम्बन्ध है और शरीर का विनाश होने पर वह कार्य नही कर सकता। आत्मा ही एक मात्र प्रकाशक है—मन उसके हाथ मे यंत्र के समान है। बाहर के चक्षु आदि यंत्रो मे विषय का चित्र गिरता है, और वे उसको भीतर मस्तिष्क-केंद्र मे ले जाते है—कारण, आपको यह याद रखना चाहिये कि चक्षु आदि केवल इन चित्रों को ग्रहण करनेवाले है; भीतर का यंत्र अर्थात् मस्तिष्क का केन्द्रसमूह ही कार्य करता है। संस्कृत भाषा मे मस्तिष्क के इन सब केन्द्रों को इन्द्रिय कहते है—ये इन्द्रियाँ इन चित्रों को लेकर मन के पास अर्पित कर देती हैं, फिर मन इनको बुद्धि के निकट और बुद्धि उन्हे अपने सिंहासन पर बैठे हुये महा-

महिमाशाली राजाओं के राजा आत्मा को प्रदान करती है। आत्मा उन्हे देख कर जो आवश्यक है वह आदेश करता है। उसके बाद मन इन्ही मस्तिष्क-केन्द्रो अर्थात् इन्द्रियों के ऊपर कार्य करता है और फिर वे स्थूल शरीर के ऊपर कार्य करती है। मनुष्य का आत्मा ही इन सब का वास्तविक अनुभवकर्ता, शास्ता, स्रष्टा, सब कुछ है। हमने देखा कि आत्मा शरीर भी नही है, मन भी नही। आत्मा कोई यौगिक पदार्थ (Compound) भी नही हो सकता। क्यों? कारण, जो कुछ भी यौगिक पदार्थ है वही हमारे दर्शन या कल्पना का विषय होता है। जिस विषय का हम दर्शन या कल्पना कुछ भी नही कर सकते, जिसे हम पकड़ नही सकते, जो न भूत है, न शक्ति, जो कार्य, कारण अथवा कार्य-कारण-सम्बन्ध कुछ भी नही है, वह यौगिक अथवा मिश्र नहीं हो सकता। अन्तर्जगत् पर्यन्त ही मिश्रित पदार्थ का अधिकार है—उसके बाहर और नही। सभी मिश्रित पदार्थ नियम के राज्य के अन्दर हैं—नियम के राज्य के बाहर वे रह ही नही सकते। इसको और भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है। यह गिलास एक योग से उत्पन्न पदार्थ है—अपने कारणों के मिलन से ही यह कार्यरूप मे परिणत हुआ है। अत इन कारणो की समष्टि रूप गिलास नामक यौगिक पदार्थ कार्य-कारण के नियम के अन्तर्गत है। इसी प्रकार जहाँ जहाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध देखा जायगा वहाँ वहाँ यौगिक पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। इसके बाहर उसके अस्तित्व की बात कहना कोरा पागलपन है।—इनके बाहर कार्य-कारण-सम्बन्ध रह ही नही सकता। हम जिस जगत् के सम्बन्ध मे चिन्ता अथवा कल्पना कर सकते हैं अथवा जो देख या सुन सकते हैं उसी के भीतर नियम कार्य कर सकता है। हम यह भी देखते हैं कि अपनी इन्द्रियों के द्वारा जो

कुछ अनुभव या कल्पना कर पाते है वही हमारा जगत् है--वाह्य वस्तुओं को हम इन्द्रियो के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते है और भीतर की वस्तु को हम मानस-प्रत्यक्ष अथवा कल्पना कर सकते है। अतएव जो कुछ हमारे शरीर के बाहर है वह इन्द्रियो के भी वाहर है और जो हमारी कल्पना के बाहर है वह हमारे मन के बाहर है और इसीलिये हमारे जगत् के बाहर है। अतएव कार्य-कारण-सम्बन्ध के बहिर्देश मे स्वाधीन शास्ता आत्मा रहता है। ऐसा होने से ही वह नियमों के अन्तर्गत सभी वस्तुओं का नियमन करता है। आत्मा नियम से अतीत है, इसीलिये निश्चय ही मुक्तस्वभाव है; वह किसी प्रकार भी मिश्रणोत्पन्न पदार्थ नही हो सकता--अथवा किसी कारण का कार्य नहीं हो सकता। उसका कभी विनाश नहीं हो सकता, कारण विनाश का अर्थ हे किसी यौगिक पदार्थ का अपने उपादानों मे परिणत हो जाना। अतएव जो कभी संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ उसका विनाश किस प्रकार होगा? उसकी मृत्यु होती है या विनाश होता है ऐसा कहना केवल एक असम्बद्ध प्रलाप है।

किन्तु यही पर इस प्रश्न का निश्चित सिद्धान्त नहीं मिला। अब हम और भी सूक्ष्मता की ओर बढ रहे है और आप में से कुछ लोग शायद भयभीत भी हो रहे होंगे। हमने देखा कि यह आत्मा भूत, शक्ति एव चिन्ता रूप क्षुद्र जगत् के अतीत एक मौलिक (Simple) पदार्थ है, अतः इसका विनाश असम्भव है। इसी प्रकार उसका जीवन भी असम्भव है। कारण, जिसका विनाश नहीं उसका जीवन भी कैसे हो सकता है? मृत्यु क्या है? मृत्यु एक पृष्ठ या पहलू है, और जीवन उसी का एक दूसरा पृष्ठ या पहलू है। मृत्यु का और एक नाम है

जीवन, और जीवन का और एक नाम है मृत्यु। अभिव्यक्ति के विशिष्ट रूप को हम जीवन कहते है, और उसीके अन्य रूपविशेष को मृत्यु कहते है। जब तरंग ऊपर की ओर उठती है तो मानो जीवन है और फिर जब वह गिर जाती है तो मृत्यु है। जो वस्तु मृत्यु के अतीत है वह निश्चय ही जन्म के भी अतीत है। मै आपको फिर उसी सिद्धान्त की याद दिलाता हूँ कि मानवात्मा उसी सर्वव्यापी जगन्मयी शक्ति अथवा ईश्वर का प्रकाश मात्र है। तो हम देखते है कि वह जीवन और मृत्यु दोनों के परे है। आप न कभी उत्पन्न हुये थे, न कभी मरेंगे। हमारे चारो ओर जो जन्म और मृत्यु दीखती है वह क्या है? यह तो केवल शरीर की है, कारण आत्मा तो सदा सर्वदा वर्तमान है। आप कहेंगे, "यह कैसे? हम इतने लोग यहाँ पर बैठे हुए है और आप कहते है, आत्मा सर्वव्यापी है!" मै पूछता हूँ, जो पदार्थ नियम के, कार्य-कारण-सम्बन्ध के बाहर है उसे सीमित करने की शक्ति किसमे है? यह गिलास एक सीमित पदार्थ है; यह सर्वव्यापक नही है, क्योकि इसके चारो ओर की जड़राशि इसको इसी रूप मे रहने को बाध्य करती है, इसे सर्वव्यापी होने नहीं देती। यह अपने आस पास के प्रत्येक पदार्थ के द्वारा नियन्त्रित है, अतएव यह सीमित है। किन्तु जो वस्तु नियम के बाहर है, जिसके ऊपर कोई पदार्थ क्रिया नहीं करता वह कैसे सीमित हो सकती है? वह सर्वव्यापक होगी ही। आप सर्वत्र विद्यमान है। फिर यह कैसे हो रहा है कि मैं जन्म लेता हूँ, मरने वाला हूँ आदि आदि। यही अज्ञान है, मन का भ्रम है। आपका न कभी जन्म हुआ था, न आप कभी मरेंगे। आपका जन्म भी नहीं हुआ, न पुनर्जन्म होगा। आवागमन का क्या अर्थ है? कुछ नहीं। यह सब मूर्खता है। आप सब जगह मौजूद है। आवागमन जिसे कहते है

वह इस सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन के परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुई एक मृगमरीचिका मात्र है। यह, बराबर चल रहा है। यह आकाश पर तैरते हुये बादल के एक टुकडे के समान है। जैसे जैसे यह चलता जाता है वैसे ही एक भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि आकाश चल रहा है। कभी कभी जब चन्द्रमा ही के ऊपर से बादल निकलते है तो भ्रम होता है कि चन्द्रमा ही चल रही है। जब आप गाड़ी मे बैठे रहते है तो मालूम होता है कि पृथ्वी चल रही है और नाव पर बैठने वाले को पानी चलता हुआ सा मालूम होता है। वास्तव मे न आप जा रहे है, न आ रहे हैं, न आप ने जन्म लिया है, न फिर जन्म लेंगे। आप अनन्त हैं, सर्वव्यापी है, सभी कार्य-कारण-सम्बन्ध से अतीत, नित्य मुक्त, अज और अविनाशी। जन्म और मृत्यु का प्रश्न ही गलत है, महामूर्खतापूर्ण है। मृत्यु हो ही कैसे सकती है जब जन्म ही नहीं हुआ।

किन्तु तर्कसंगत सिद्धान्त लाभ करने के लिए हमे अभी एक पग और बढ़ाना पडेगा। मार्ग के बीच मे रुकना नहीं है। आप दार्शनिक है, आपके लिये बीच मे रुकना शोभा नही देता। तो यदि हम नियम के बाहर है तो निश्चय ही सर्वज्ञ भी है और नित्यानन्द स्वरूप भी। सभी ज्ञान हमारे अन्दर और सभी शक्ति तथा आनन्द भी हमारे अन्दर ही है। हाँ, अवश्य ही है। आप ही जगत् के सर्व-व्यापक सर्वज्ञ आत्मा है। परन्तु इस प्रकार की सत्ता या पुरुष क्या एक से अधिक हो सकते है? क्या लाखों करोडों पुरुष सर्वव्यापक हो सकते है? कभी नहीं। तब फिर हम सबका क्या होगा? हम सब एक ही है; इस प्रकार का आत्मा एक ही है और वह एक आत्मा ही आप सब

हैं। इस तुच्छ प्रकृति के पीछे वही है, जिसे हम आत्मा कहते हैं। एक ही पुरुष है जो एकमात्र सत्ता है, सदानंद स्वरूप, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान, जन्मरहित, मृत्युहीन। उसी की आज्ञा से आकाश विस्तृत हुआ है, उसी की आज्ञा से वायु बहती है, सूर्य चमकता है, सब जीवित रहते है। प्रकृति का वास्तविक रूप वही है; प्रकृति उसी सत्य स्वरूप के ऊपर प्रतिष्ठित है, इसीलिए सत्य प्रतीत होती है। वही आप की आत्मा का आत्मा है, नहीं, और भी अधिक, आप ही वह है, आप और वह एक ही हैं, जहॉ कहीं भी दो हैं वही भय है, वही खतरा है, वहीं द्वन्द्व है, वहीं संघर्ष है। जब सब एक ही है तो किससे घृणा, किससे संघर्ष; जब सब कुछ वही है, तो आप किससे लडेगे? जीवनसमस्या की वास्तविक मीमांसा यही है। इसीसे वस्तु के स्वरूप की व्याख्या होजाती है, यही सिद्धि या पूर्णत्व है, यही ईश्वर है। जब तक आप अनेक देखते है तभी तक आप अज्ञान मे हैं। "इस बहुत्वपूर्ण जगत् मे जो एक को देखता है, इस परिवर्तनशील जगत् मे जो उस अपरिवर्तनशील को देखता है और जो उसे, अपने आत्मा के आत्मा के रूप मे देखता है, अपना स्वरूप जानता है, वही मुक्त है, वही आनन्दमय है, वही लक्ष्य पर पहुँच गया है।" इसलिये समझ लो कि तुम ही वही हो, तुम ही जगत् के ईश्वर हो, 'तत्त्वमसि'। ये धारणायें कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मै रोगी हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं वलवान् हूँ, मैं निर्वल हूँ, अथवा यह कि मैं घृणा करता हूँ, मैं प्रेम करता हूँ अथवा मेरे पास इतनी शक्ति है, यह सब भ्रम मात्र है। इसको छोडो। तुम्हें दुर्वल कौन वना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् मे तुम्हीं तो एक मात्र सत्ता हो। तुम्हे किसका भय है? खडे हो जाओ, मुक्त हो जाओ। समझ लो कि जो कोई विचार या शब्द तुम्हे दुर्वल

बनाता है वही एक मात्र अशुभ है। मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार मे जो कुछ भी है वही पाप है और उसीसे बचना चाहिये। तुम्हे कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े, सैकडों चन्द्र चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायँ तो भी तुम्हारे लिये क्या है? शिला की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो। कहो "शिवो ऽहं, शिवोऽहं; मै पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।" और एक सिंह की भाँति पिंजड़ा तोड़ दो, अपनी शृंखालायें तोडकर सदा के लिये मुक्त हो जाओ। तुम्हे किसका भय है, तुम्हें कौन रोक सकता है? — केवल अज्ञान और भ्रम; और कोई तुम्हे पकड़ नही सकता। तुम शुद्धस्वरूप हो, तुम नित्यानन्दमय हो।

यह मूर्खों का उपदेश है कि 'तुम पापी हो, अतएव एक कोने में बैठकर हाय हाय करते रहो।' यह उपदेश देना मूर्खता ही नहीं, दुष्टता भी है। तुम सभी ईश्वर हो। ईश्वर को न देखकर मनुष्य को देखते हो? अतएव यदि तुममे साहस है तो इसी विश्वास पर खड़े होकर उसी के अनुसार अपने जीवन को बनाओ। यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा गला काटे तो उसको मना मत करना, क्योंकि तुम तो स्वयं ही अपना गला काट रहे हो। किसी गरीब का यदि कुछ उपकार करो तो उसके लिये तनिक भी अहङ्कार मत करना। कारण, वह तो तुम्हारे लिये उपासना मात्र है, उसमें अहंकार की कोई बात नहीं है। क्या तुम्ही समस्त जगत् नहीं हो? ऐसी कौन सी वस्तु है और कहाँ है कि जो तुम नही हो? तुम जगत् की आत्मा हो। तुम्हीं सूर्य, चन्द्र, तारा हो। समस्त जगत् तुम्ही हो। किससे घृणा करोगे और किससे

झगडा करोगे ? अतएव यह समझ लो कि तुम्हीं वह हो और इसी के अनुसार समस्त जीवन को बनाओ। जो व्यक्ति इस तत्व को जान-कर समस्त जीवन का उसी के अनुसार गठन करता है वह फिर कभी अन्धकार मे मारा मारा नही फिरेगा।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**-तीन भागों में-अनु० पं सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)-मूल्य ६); द्वितीय भाग-मूल्य ६): तृतीय भाग-मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**-(विस्तृत जीवनी)-(द्वितीय संस्करण)-दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य..... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**-(विस्तृत जीवनी)-सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**-(वार्तालाप)-शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. भारत में विवेकानन्द	(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान)	५)
९. पत्रावली (प्रथम भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
१० ,, (द्वितीय भाग)	(प्रथम सस्करण)	२=)
११. धर्मविज्ञान	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१२. कर्मयोग	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३. हिन्दू धर्म	(द्वितीय सस्करण)	१॥)
१४. प्रेमयोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१५ भक्तियोग	(तृतीय सस्करण)	१।=)
१६. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	(तृतीय संस्करण)	१)
१७. परिव्राजक	(चतुर्थ संस्करण)	१)
१८. प्राच्य और पाश्चात्य	(चतुर्थ सस्करण)	१)
१९. महापुरुषों की जीवनगाथायें	(प्रथम संस्करण)	१)
२०. राजयोग	,,	१=)
२१. स्वाधीन भारत ! जय हो !	(प्रथम संस्करण)	१=)
२२. धर्मरहस्य	(प्रथम संस्करण)	१)
२३ भारतीय नारी	(प्रथम संस्करण)	॥)
२४ शिक्षा	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२५. शिकागो-वक्तृता	(पञ्चम संस्करण)	॥=)

२६. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वितीय संस्करण) ॥=)
२७ मेरे गुरुदेव (चतुर्थ संस्करण) ॥=)
२८. कवितावली (प्रथम सस्करण) ॥=)
२९. वर्तमान भारत (तृतीय संस्करण) ॥)
३०. पवहारी बाबा (द्वितीय संस्करण) ॥)
३१. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वितीय संस्करण) ॥)
३२. मरणोत्तर जीवन (द्वितीय संस्करण) ॥)
३३. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें ॥)
३४. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द, मूल्य ॥=)
३५. मेरी समर-नीति (प्रथम संस्करण) ।≡)
३६. ईशदूत ईसा (प्रथम संस्करण) ।=)
३७. विवेकानन्दजी की कथायें (प्रथम संस्करण) १।)
३८. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द ,, ३।)
३९. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्रथम संस्करण) ॥=)

मराठी विभाग

१-२ श्रीरामकृष्ण चरित्र-प्रथम भाग, (तिसरी आवृत्ति) ३।)
,, ,, द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३।)
३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा— (दुसरी आवृत्ति) ॥।=)
४. शिकागो-व्याख्यानें-स्वामी विवेकानंद (दुसरी आवृत्ति) ॥=)
५. माझे गुरुदेव-स्वामी विवेकानंद (दुसरी आवृत्ति) ॥=)
६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण-स्वामी विवेकानंद ॥-)
७. पवहारी बाबा-स्वामी विवेकानंद ॥)
८. साधु नागमहाशय-चरित्र-(भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)- (दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश